योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 53 , अंक : 05
अगस्त 2021

प्रकाशन तिथि : 31.08.2021
मूल्य = एक प्रति : 20 =, द्विवार्षिक : 380/-

अमृतकण

मम रूपाऽसि देवि त्वं त्वद्भक्त्यर्थं वदाम्यहम्

लोकोपकारक: प्रश्नो न केनापि कृत: पुरा

श्री ईश्वर- हे देवी ! तू मेरा ही रूप है, तेरी भक्ति के कारण मैं कहता हूँ।यह लोकों का उपकार करने वाला प्रश्न पहिले किसी ने भी नहीं किया।

गुशब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति रुशब्दस्तन्निरोधक:

अंधकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते

गु शब्द अन्धकार रूप है, रू शब्द अन्धकार को दूर करने वाला है। अन्धकार का विरोधी होने से ज्ञानदाता गुरु कहलाता है।

यदंघ्रिकमलद्वन्द्वं द्वन्द्व ताप निवारकम्

तारकं भव सिंधोश्च श्रीगुरुं प्रणमाम्यहम्

जिनके दोनों चरण कमल द्वन्द्व रूपी ताप को निवारण करने वाले हैं और संसार रूपी समुद्र से पार करने वाले हैं उन श्री गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।

लोकोपकारक: प्रश्नो न केनापि कृत: पुरा

दुर्लभस्त्रिषु लोकेषु तच्छृणुष्व यथा तथा

लोकों का उपकार करने वाला प्रश्न पहले किसी ने भी नहीं किया जो तीनों लोकों में दुर्लभ है उनको जैसा है वैसा सुनो।

किञ्चिद्गुरुं विना नान्यत् सत्यं सत्यं वरानने

मन्त्रयन्त्रादिविद्यानां स्मृतिरुच्चाटनादिकम्

हे सुन्दर मुखवाली ! गुरु के सिवाय अन्य कुछ नहीं है यह सत्य है सत्य है। मंत्र यंत्रादिक विद्या, स्मृति, उच्चाटन आदिक।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 54 अगस्त 2021 अंक : 05

सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं,
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता,
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।

अर्थात् - तुम्ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् ब्रह्म हो, तुम्ही इस विश्व के आखिरी आधार हो, तुम्ही विकारशून्य हो, सनातनधर्म के रक्षक हो और मेरे जानते तुम्हीं सनातन पुरुष हो।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	**विशेष लेख**- योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2.	**सम्पादकीय**	7
3.	**श्रीमद्‌भागवत् में योग-परिचर्चा**- डॉ. विजय सिंह	11
4.	**सच्चे शिष्य की चाहत**- अन्तराम यादव	15
5.	**शक्तिपात एवं कुण्डलिनी जागरण**- श्री सूरजप्रकाश	19
6.	**पुनर्जन्म का सिद्धान्त**- श्री सुरेन्द्र सिंह	22
7.	**योग-चिकित्सा**- श्री गिरीशदेव वर्मा	26
8.	**चित्त- शुद्धि एवं समाधि**- श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री	27
9.	**एकात्मकता**- श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा	31
10.	**अशान्तस्य कुतः सुखम्**	36
11.	**प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण कर्म**- आचार्य डॉ. केशवराम शर्मा	37

●●●

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 380.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

विशेष लेख–

दीक्षा तत्व

(योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज)

हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों में '**दीक्षा**' शब्द का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में होता है। दीक्षा शब्द के अन्दर '**दीयते**' और '**क्षीयते**' दो क्रियाओं का प्रयोग स्पष्ट रूप से आभाषित होता है। यदि हम दीक्षा का अर्थ संस्कृत व्याकरण के माध्यम से ठीक–ठीक करें तो ''**दीयते ज्ञानम् क्षीयते तदावरणम् च**'' स्पष्ट रूपेण प्रस्फुटित होता है।

अर्थात्–जिस क्रिया के द्वारा ज्ञान, धर्म, सत्य, शक्ति को प्रदान किया जाय और उनके बीच की रूकावट को खत्म किया जाय उसका नाम शास्त्रीय परिभाषा में दीक्षा कहा गया है। वस्तुतः विचार करके देखा जाय तो दीयते और क्षीयते का प्रयोग मनुष्य की हर हरकत के द्वारा प्रतिरक्षण होता रहता है। मनुष्य अपनी वाणी के द्वारा सत्य का उपदेश करता है और सत्योपदेश के विपरीत विरोधी तत्वों को नष्ट करता है। यहाँ पर दीयते और क्षीयते दोनों क्रियाओं का सही प्रयोग सहज में ही दिखलाई दे रहा है। अपनी वाक् शक्ति के द्वारा मनुष्य जैसे सत्य ज्ञान प्रदान करता है और उसके विपरीत भावों का क्षय करता है, इसी प्रकार वह अपनी आँखों से सत्य सुगम मार्ग का दर्शन करता है और कंटकाकीर्ण अहितकर कुमार्ग का निवारण करता है। यहाँ पर नेत्र दृष्टि के द्वारा भी यही उपरोक्त दोनों क्रियायें स्पष्ट रूपेण आभाषित होती हैं। कहीं किसी स्थान पर एक बच्चा अपनी माँ की स्मृति में रूदन कर रहा है और उसकी माँ जल्दी से आकर उसको उठाकर कंठ से लगा लेती है। माँ के प्यार के स्पर्श को पाकर बच्चा दीयते और क्षीयते दोनों क्रियाओं का अपने मन में अनुभव करता है। बच्चे को माँ के प्यार भरे स्पर्श ने एक विशेष आनन्द को दिया और रोदन का कष्ट जो उस बालक के मन में हो रहा था तत्काल क्षय भी हो गया। इसी प्रकार मनुष्य का मन भी हर समय इन्हीं दोनों क्रियाओं के अनुसार ही क्रियान्वित रहा करता है। जहाँ पर मनुष्य का मन किसी के प्रति शुभ विचार को धारण करता है, वहाँ पर एक प्रकार से शुभ भावों का प्रदान ही है और ठीक इसके विपरीत इन शुभ भावों के आते ही दुर्भावों का निष्कासन भी साथ ही हो जाना बिल्कुल अनिवार्य है। यह क्रिया हर समय प्राणी मात्र में होती रहती है। इसी के आधार पर हमारे शास्त्रों में एक निर्णायात्मक सिद्धान्त का आदेश दिया कि ''**मातृवान्, पितृवान्, आचार्यवान्, पुरुषोवेद**'' अर्थात् माँ वाला व्यक्ति परमात्मा को पा जाता है। सत्य सिद्धान्त यह रहा कि ''**मातृवान पुरुषोवेद**'' माँ, जन्म लेने के बाद अपने बच्चे के मन को इतना अधिक खुश कर देती है

कि उसके मन से मिथ्या भ्रमों का नाश पहले से ही होता चला आता है। माता अपनी वाणी से बच्चे को कहती है "**शुद्धोसि बुद्धोसि निरन्जनोसि संसार माया परिवर्जितोसि**" अर्थात्—हे बेटा! तू शुद्ध–बुद्ध निरंजन है और संसार की माया कीच से बिल्कुल बचा हुआ है। माता का यह उपदेश उस बच्चे को अमरत्व का दाता बन जाता है। उसके अन्दर नीच कुत्सित भावों का लवलेश भी नहीं रहता। माता के उपदेशों ने '**अहं ब्रह्म अस्मि**' के भावों को पूर्णरूपेण पुष्ट कर डाला। इस शिक्षा के बाद '**पितृवान् पुरुषोवेद**' पिता वाला परमात्मा को जानता है। माता की शिक्षा के बाद पिता अपने बच्चे के नित्य नैमित्यिक कर्मों का उपदेश करता है और माता के दिये उपदेश को क्रियात्मक रूप में परिणित करा देता है, पिता के उपदेशों के द्वारा उसके कराये हुए क्रियात्मक जीवन के द्वारा ब्रह्मचारी आचार्य चरणों की सेवा के लायक बन गया और आचार्यवान् '**पुरुषोवेद**' क्रिया को पूर्णरूपेण प्रगट कर लेने का अधिकार प्राप्त कर लिया। यह एक प्रकार से स्पष्टरूपेण सत्याधान ही है। कौन पुरुष कितना शक्तिपात कर सकता है, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। '**स्वयं शक्तो विनियिषु शक्तिमा धातुम् समर्थो भवति**'। अर्थात्—जो स्वयं सामर्थ्यवान है, वही दूसरों को शक्ति दे सकता है।

स्वयं तीर्णः परान् तारयति।'

जो आप तैरना जानता है वही दूसरों को तैरा भी सकता है। जो आप तैरना नहीं जानता और दूसरों की चेष्टा करता है, उसके लिए वही सिद्धान्त लागू रहेगा। **सत्स्वयं निमग्नः परान् अपि निमज्जयति।**

जो स्वयं ही डूब रहा है, वह दूसरों को क्या बचायेगा? प्रत्युत एक दो को साथ लेकर डूब ही जायेगा। इसलिये शक्तिपात करने का अधिकार, दूसरे शब्दों में दीक्षा देने का अधिकार केवल मात्र सामर्थ्यवान गुरुदेव को ही है। तन्त्र शास्त्रों में इस प्रकार का उपदेश भी है कि—

मंत्र चैतन्य विज्ञाता गुरुरुक्तः स्वयं भुवा।

मंत्र चैतन्य को जानने वाला, मंत्र के अन्दर चैतन्यत्व प्रदान करने वाला गुरु ही गुरु कहा गया है। इस प्रकार से गुरु का स्पष्टीकरण करते हुए दूसरे स्थान पर और भी स्पष्ट कह दिया—

गुरोर्यस्यैव संस्पर्शात् परानन्दोऽभिजायते।
गुरुं तमेव वृणुयात् नापरं मतिमान्नरः।।

अर्थात्—जिसके स्पर्श मात्र से अपने शरीर में परमानन्द की अनुभूति हो, साधक को चाहिये कि उसको ही अपना गुरु बनाये, अन्य सर्वसाधारण को नहीं। गुरु की वाणी के अन्दर ताकत होती है। गुरु के शब्दों के अन्दर ताकत होती है। गुरु के स्पर्श के अन्दर ताकत होती है। गुरु के मन की ताकत शिष्यों का हर समय भला किया करती है। जिस

गुरु के अन्दर से इस प्रकार की शक्ति का बराबर निष्कासन होता रहता है, ऐसा गुरु स्वयं शिव रूप है। **'योग वाशिष्ठ'** में महर्षि वशिष्ठ जी ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया है–

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात्, कृपया शिष्य देहके।
जनयेद्यः समावेशं शांमवं सहि दाक्षिकः।।

अर्थात्–जिसके दर्शन, स्पर्शन एवं शब्द से शिष्य के शरीर में शक्ति संचरित हो वह गुरु स्वयं शिव का स्वरूप है और शक्तिपात का अधिकारी है। गुरुदेव अपने शिष्यों को योग दीक्षा देते हुए स्पर्श, दृष्टि, मनन एवं वाणी के द्वारा दीक्षा देकर शिष्यों के संताप को दूर किया करते हैं। आज कलिकाल के समय में शिष्य–संतापहारी गुरू की प्राप्ति बड़ी कठिनता से हो पाती है। इस प्रकार के गुरुओं की कोई कमी नहीं जो अपने स्वार्थों को दृष्टिगत रखकर शिष्य संतापहारी तो बने रहते हैं, किन्तु अपने शिष्यों के कल्याण का उनको कोई ख्याल नहीं रहता। गुरुदेव द्वारा दी जाने वाली दीक्षाओं का वर्णन तन्त्र शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से है।

स्पर्श–दीक्षा

यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्धयेच्छनैः।
स्पर्श दीक्षोपदेशश्च तादृशः कथितः प्रिये।।

अर्थात्–जैसे पक्षी अपने पंखों के द्वारा स्पर्श करके अपने शिशुओं का संवर्धन किया करता है और समय आने पर उनको प्रकट कर देता है। इसी प्रकार से गुरुदेव स्पर्श के द्वारा अपने शिष्यों का संवर्धन करते हैं और उत्तरोत्तर वह स्पर्श–दीक्षा से प्राप्त हुई शक्ति उनको यथार्थ शुद्ध स्थिति में लाकर रखती है।

दृग–दीक्षा

स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणेनैव पोषयेत्।
दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः परमेश्वरि।।

अर्थात्–जिस प्रकार से मत्स्य अपनी दृष्टि के द्वारा अपने बच्चों का पोषण किया करता है इसी प्रकार से गुरुदेव अपनी दृष्टि के द्वारा अपने शिष्यों का पोषण किया करते हैं।

मानस–दीक्षा

यथा कूर्मः स्वतनयान्ध्यानमात्रेण पोषयेत्।
वेध दीक्षोपदेशश्च मानुषस्य तथा विधः।।

अर्थात्–जिस प्रकार कछुवा चिन्तन मात्र से अपने बच्चों का रक्षण करता है। इसी प्रकार से गुरुदेव अपने मानस शुभ संकल्प के द्वारा अपने शिष्यों का पोषण किया करते

है। पुराणों में बहुत प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन मिलता है।

शाम्भावी दीक्षा के विषय में तो बिलकुल स्पष्ट कह दिया है—

गुरोरालोक मात्रेण स्पर्शात्संभाषणपादपि।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तो दीक्षा साशाम्भवी मता।।

अर्थात्—जिसके देखने मात्र से, स्पर्शमात्र से या वाणी के उच्चारण मात्र से तत्काल शक्ति संचरित हो जाती है वही **शाम्भवी दीक्षा** कहलाती है।

जिसके द्वारा शक्तिपात नहीं होता वस्तुतः वह गुरू कहलाने का अधिकारी नहीं। जब तक शिष्य के शरीर में शक्ति संचार नहीं होता तब तक उस शिष्य की सभी क्रियायें उसके प्रयास मात्र ही हैं। उनका फल केवल मात्र इतना ही होता है, जिससे पुण्य वृद्धि होती रहे और मनुष्य शक्तिपात का अधिकारी बन जाय। वस्तुतः—

शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहर्मति।
यत्र शक्तिर्न पतिता तत्र सिद्धिर्न जायते।।

अर्थात्—जब तक मनुष्य अपनी विशेष प्रकार की साधनायें करता हुआ शक्तिपात का अधिकारी नहीं बनता तब तक उसकी सब साधनायें पुण्य–वद्धिकर हैं। साधना करने के फलस्वरूप चाहे वह व्यक्ति ज्ञान धारण प्रधान क्यों न हो जब तक सिद्ध संगति को प्राप्त नहीं करता और उसका अनुग्रह भाजन नहीं बन जाता तब तक वह संसार से पार नहीं हो सकता।

प्रावाहिक दीक्षायें

प्रवाहान्तरगत होने वाली दीक्षाओं को साम्प्रदायिक दीक्षायें भी कहा जा सकता है। महापुरुष लोग अपनी–अपनी विचारधाराओं को संसार के सामने रखते हैं। किन्तु शक्ति प्रवाह का उनका मूल स्रोत एक ही स्थान से चलता है। जब मनुष्य उनके प्रभाव से प्रभावित हो करके उस मार्ग का अनुगामी बनता है तो उनको आदि सिद्ध उस आचार्य की शक्ति को प्राप्त होती है जिसको पा करके ही कोई–कोई सुकृती लोग अपने चरम लक्ष्य की ओर बढ़ जाते हैं। अतः परम करुणार्णव श्री गुरुदेव के प्यारे चरण–कमलों को प्राप्त करके उस नित्य चेतन से अपना अकृतिम सम्बन्ध स्थापित कर ही लेना चाहिये ताकि साधक प्रयत्न करता हुआ परम श्रेय का भाजन हो जाय और **''स्वयं तीर्णः परान्तारयति''** का अधिकारी बन सके।

सम्पादकीय—

जन्म से पूर्व ही निश्चित है—जाति, आयु और भोग

—आचार्य डॉ. दासलाल जी महाराज

जब तक चित्त में अविद्या है तब तक जीवों के जन्म–मरण का क्रम चला रहता है। योग समाधि से जिनका कर्म बीज दग्ध भाव को प्राप्त हो जाता है उसी का पुनर्जन्म नहीं होता है। कथा–वाचकों के मुख से सुना करते हैं कि सुख, दुःख और प्रारब्ध जन्म से पहले ही निश्चित होता है, पातञ्जल दर्शन में पतञ्जलि भगवान इस विषय में क्या कहते हैं आइये समझते हैं। योग दर्शन में एक सूत्र दिया है—

सति मूले तद्विपाको जात्युर्भोगः' *(योग सूत्र 2/13)*

इसका अर्थ है कि अविद्या के चित्त में रहते हुये अविद्या रूपी वृक्ष में जाति, आयु और भोग रूपी फल लगते हैं। यह जन्म से पूर्व निश्चित हो जाता है जब प्राणी शरीर को छोड़ने लगता है। प्राणी के पाप और पुण्य के हिसाब से यह **जाति, आयु आदि** तीनों निश्चित होती हैं। इसमें पहली बात है जाति। जाति को हम योनि भी कह सकते हैं। प्राणी मनुष्य, पशु, देव आदि किस योनि में आयेगा, यह पहले से निश्चित है। मनुष्य एक जाति है और 84 लाख योनियों में मनुष्य का जन्म अत्यन्त दुर्लभ माना गया है। जीव के संचित कर्माशय से एक जन्म में भोगे जाने वाले, आयु और भोग की व्यवस्था हो जाती है। इस जन्म में भुगतान होने के कारण यह नियत विपाक कहलाता है इसे ही **दृष्ट जन्म वेदनीय** कर्म भी कहते हैं। जो कर्म अगले जन्म में भोगा जाना है उसे **अनियत विपाक** या अदृष्टवेदनीय कर्म कहते हैं। इसी जन्म में भोगे जाने वाले कर्म को प्रारब्ध कर्म भी कहते हैं। कर्म तीन प्रकार के होते हैं (1) संचित कर्म (2) प्रारब्ध कर्म और (3) क्रियमाण कर्म होते हैं। इनमें संचित कर्म वे हैं जिनका भुगतान काल अभी नहीं आया है वे जमा–खाते की तरह हैं। प्रारब्ध कर्म वे हैं जो संचित में से निकाल कर एक जन्म में भोगने के लिये निश्चित किये जाते हैं तथा वर्तमान समय में जो कर्म **क्रिये** जा रहे हैं उन्हें 'क्रियामाण' कर्म कहते हैं। सतोगुण व रजोगुण के हिसाब से ही जीवों की योनियाँ निर्धारित होती हैं। चेतना का विकास उचित मात्रा में होने पर ही मनुष्य का जीवन मिलता है। और यह बहुत दुर्लभ कहा गया है। विवेक चूड़ामणि में आदिगुरु शंकराचार्य जी महाराज इस विषय में लिखते हैं—

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिक धर्म मार्ग परता द्वित्वमस्मात्परम्
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति
मुक्तिर्नो शतजन्म कोटि सुकृतैः पुण्यै विना–लभ्यते।

अर्थात्–प्राणियों में मनुष्य का जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। उसमें भी पुरुष का शरीर दुर्लभ है। उसमें भी विप्रता अर्थात् ब्राह्मण कुल में जन्म दुर्लभ है। पुनः वैदिक धर्म का अनुगामी होकर विद्वान व्यक्ति का होना दुर्लभ है। उसके बाद भी आत्म–अनात्म के विवेचनपूर्वक स्वानुभव होकर आत्मस्थिति बनी हुई है। इसके पश्चात् भी करोड़ों जन्मों के पुण्यों के बिना मुक्ति संभव नहीं है।

(2) आयु–जीव के पृथ्वी पर जन्म लेने के क्षण से लेकर आखिरी सांस तक की अवधि को आयु कहते हैं। जिसे सामान्य भाषा में उम्र भी कह देते हैं। यह आयु भी प्राणी के पुण्य के हिसाब से तय होती है। पुण्य की मात्रा अधिक होने पर ही प्राणी दीर्घायु होता है।

यद्यपि आयु पुण्य–पाप के हिसाब से ही होती है किन्तु मानव जीवन में पुरुषार्थ से, पुण्य कर्म से, प्राणायाम व व्यायाम करने से भी उसे बढ़ाया जा सकता है। मनुस्मृति आदि शास्त्रों में लेख है–

अभिवादन शीलस्य नित्य वृद्धोपसेविनः
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुविद्या यशो–बलम्।

नित्य बड़ों को प्रणाम करने से, सेवा करने से आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होती है।

दुराचरण, शराब आदि के सेवन से मनुष्य की आयु घट जाती है।

मृकन्ड ऋषि के पुत्र का प्रसंग पुराणों में मिलता है कि उनकी सोलह वर्ष की ही आयु थी। किन्तु उनका नियम था कि ऋषियों को नित्य प्रणाम करके 'चिरंजीव होने का आशीर्वाद लेते थे। वे भगवान शिव के परम भक्त थे। सोलह वर्ष की आयु–समाप्ति पर भगवान शिव ने उन्हें अजर–अमर होने का वरदान दे डाला। परिणामस्वरूप वे आज भी शरीर से विद्यमान हैं।

भोग–जीवन में पाप–पुण्य के फल के रूप में सुख और दुःख मिलता है। पुण्य से सुख और पाप कर्म से दुःख प्राप्त होता है, यही भोग है। गीता में भी भगवान् कहते हैं–

कर्मणाः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मल फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखं अज्ञानं तमसः फलम्।

(गीता 14/16)

अर्थात् पुण्य कर्मों का फल सात्विक और निर्मलता देने वाला है। रजोगुणी कर्मों का

फल दुःख है तथा तमोगुण का फल अज्ञानता है।

कारण का कार्य फल भी वैसा ही होता है अनायास कुछ भी नहीं होता है। कर्म का फल तो अवश्य मिलता है। कहा भी है–

अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अंग्रेजी में ही विज्ञान के नियम की बात कहा करते हैं– "Action has its reaction equal and opposite". अर्थात् हर क्रिया की बराबर और विपरीत प्रतिक्रिया होती है। योगी जन ही कर्म शृंखला से मुक्त हो पाते हैं अन्य कोई नहीं। गीता में इस विषय में कहा है–

व्यक्त्वा कर्म फलासगं नित्य तृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभि प्रवृत्तोऽपि, नैव किञ्चित करोति सः।।

(गीता 4/20)

अर्थात् कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर जो नित्य आत्म तृप्त रहता है और सांसारिक आश्रय से रहित हो गया है कर्मों का करते हुये भी वह कुछ भी नहीं करता है। योगियों के न पुण्य के कार्य होते हैं और न पाप के किन्तु सांसारिक अज्ञानियों के तीन प्रकार के कर्म बनते रहते हैं।

महर्षि पतञ्जलि देव जी ने दृष्टादृष्ट वेदनीय कर्मों का जो सूत्र दिया है उस पर वेदव्यास जी का सुन्दर भाष्य है। उनके अनुसार दृष्टजन्म वेदनीय कर्म पापात्मक तथा पुण्यात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। जिनका फल इसी जन्म में मिलना तय है। दृष्टजन्म वेदनीय कर्म के विषय में वे योग सूत्र के साधनपाद के बारहवें सूत्र की भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं–'**तत्र तीव्र संवेगेन मन्त्र तपः समाधिभिर्निवर्तितः ईश्वर, देवता, महर्षि, महानुभावानामराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः सः सद्यः परिपच्यते पुण्य कर्माशयइति**

अर्थात् तीव्र संवेग से किया हुआ मन्त्रजाप, तपश्चर्या, समाधि का दृढ़तर अभ्यास एवं लक्ष्य की प्राप्ति, ईश्वर, देवता, गुरुदेव, महर्षि, महानुभावों के आराधना से जो पुण्य का आधार बनेगा वह तुरन्त ही इस जन्म में फल देने वाला होता है। इसी प्रकार पाप जो अत्यधिक तीव्र संवेग से किये जाते हैं। प्राणों की हानि से डरे हुये, व्याधि युक्त व्यक्ति, दीन हीन व्यक्ति अथवा विश्वास में आये हुये प्राणी के साथ विश्वासघात, महापुरुषों एवं तपस्वियों के साथ किया गया बार–बार दुष्टता के व्यवहार का भी फल इसी जन्म में मिल जाता है। अत्यन्त पुण्य कार्य का फल इसी जन्म में मिल जाता है। नन्दीश्वर कुमार का उदाहरण दिया गया है उन्होंने भगवान शिव की घोर आराधना की थी परिणामस्वरूप मनुष्य से देवत्व को प्राप्त हो गये और शिव गणों में से एक हो गये। इसी प्रकार से सप्तर्षि के साथ किया गया दुर्व्यवहार के कारण नहुष को इन्द्र पद त्यागकर अजगर की योनि मिली थी। नारकीय प्राणियों का दृष्ट जन्म वेदनीय कर्म नहीं बनता क्योंकि उन्हें कर्म का

अधिकार ही नहीं है। जो क्लेशों को काटकर निर्बीज समाधि के भागीदार बन गये हैं उनका भी अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्म नहीं बनता है। इस प्रकार से इसी जन्म में योग साधना रूप प्रबल पुरुषार्थ से व्यक्ति नर से नारायण बन सकता है। योग वाशिष्ठ में भी महर्षि वशिष्ठ जी ने पुरुषार्थ को बहुत महत्त्व दिया है और कहा है कि मनुष्य बन्धनों को काटकर इसी जन्म में मुक्ति को पा सकता है। इस प्रकार से पतञ्जलि देव जी ने कर्म फल का विवेचन किया है। कर्म का फल कब मिलेगा यह निश्चित नहीं होता है किन्तु तीव्र संवेग से किया गया पाप या पुण्य कर्म का फल इसी जन्म में मिल जाता है। यह निश्चित है–इसे ही पतञ्जलि देव जी दृष्ट जन्म वेदनीय कर्म की संज्ञा देते हैं।

सिद्ध की पहचान

एक बार श्री प्रभुजी श्री मुल्खराज जी व अन्य अनेक सत्संगियों को लेकर के सन् 1926 में हरिद्वार कुम्भ मेले में आये। कुम्भ मेले में हजारों जटाधारी महात्मा थे, उनमें से यह पहचान नहीं की जा सकती थी कि कौन–कौन महात्मा अच्छी पहुँच वाले आये हैं। श्री मुल्खराज जी ने प्रभुजी से पूछा कि उनमें से कौन महात्मा पहुँच वाला है?

श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया–'बेटा! जिस–जिस की जैसी उपासना होती है, उतना–उतना ही उस व्यक्ति का तेजो मण्डल बढ़ता चला जाता है। तेज पुंज की उपासना से मनुष्य का तेज बढ़ता है और अन्यान्य उपासनायें करने से वही तेज लालिमा और कालिमा को लिये हुए दिखलाई देता है। शरीर के तेजोमण्डल को देखो कि उनके सिर के आसपास कितना तेजमण्डल है?' उन सभी साधुओं में केवल मात्र चार ही इस प्रकार के सिद्ध पुरुष दिखलाई दिये कि जिनका तेजमण्डल देश भर में फैला दिखाई देता था।

उसके बाद श्री मुल्खराज जी ने श्री प्रभुजी के तेजमण्डल को देखकर प्रारम्भ किया तो उनके तेज का आदि–अन्त न पा सके। अन्त में श्री प्रभुजी ने उनको ध्यान से उठा दिया और लाड़ व प्रेम से कहा–'बेटा ! हमसे ही उपाय पूछा और हमारा ही इम्तहान लेना शुरू कर दिया।

('*महायोगी की लोकयात्रा*' पुस्तक से)

श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्चा

—डॉ. विजय सिंह

तिरासीवें अध्याय में भगवान की पटरानियों के साथ द्रौपदी के साथ हुयी वार्ता का विवरण दिया गया है। यादव एवं कौरव कुल की स्त्रीयाँ आपस में मिल बैठकर भगवान श्रीकृष्ण के पराक्रम की कथा कह सुन रहे थे। द्रौपदी जी ने रुक्मिणी जी से तथा अन्य पटरानियों से यह जानना चाहा कि उन सभी का पाणिग्रहण भगवान श्रीकृष्ण से किस प्रकार हुआ। रुक्मिणी जी, सत्य भामा जी, जाम्बवंती जी, कालिन्दी जी, मित्रविन्दा जी, सत्या जी, भद्रा जी, लक्ष्मणा जी आठ पटरानियाँ तथा सोलह हजार पत्नियों की ओर से रोहिणी जी ने पूर्व वर्णित भगवान श्रीकृष्ण के विवाह प्रकरण को बतलाया।

सर्वात्मा भगवान श्रीकृष्ण के प्रति उनकी पत्नियों का कितना प्रेम है—यह बात कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा तथा गोपियों ने भी सुना। सब-की-सब उन सबों का यह अलौकिक प्रेम देखकर मुग्ध हो उठीं।

तभी भगवान व्यास, नारद जी आदि श्रेष्ठ ऋषिगण आये उनका समुचित सम्मान भगवान श्रीकृष्ण ने किया और उन्हें आसन पर विराजमान कराकर बोले—हम सभी का जीवन धन्य हो गया। जिन योगेश्वरों का दर्शन देवताओं को भी दुर्लभ है, उन्हीं का दर्शन हमें प्राप्त हुआ है।

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलम्।
देवानामपि दुष्प्रापं यद् योगेश्वर दर्शनम्।।9।।

जो थोड़ा तप किये हैं, जिन्हें सर्वभूतों में अपने इष्टदेव को देखने की क्षमता प्राप्त नहीं है। ऐसे लोगों को आप लोगों का दर्शन, स्पर्श, प्रणाम और पाद पूजन का अवसर नहीं होता है।

किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम्।
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम्।।10।।

(अ. 84 स्क. 10)

आप संत पुरुषों का तो दर्शनमात्र ही कृतार्थ कर देता है। घड़ी दो घड़ी भी आप जैसे ज्ञानी महापुरुषों की सेवा की जाय तो आप सारे पाप-ताप मिटा देते हैं।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित ! भगवान श्रीकृष्ण के गूढ़ भाषण सुनकर सब के सब ऋषि-मुनि चुप रह गये। फिर विचार कर बोले—भगवान्! आपकी माया से प्रजापतियों

के अधिश्वर मरीचि आदि तथा बड़े–बड़े तत्वज्ञानी हम लोग मोहित हो रहे हैं। आप स्वयं ईश्वर होते हुये भी मानवीय चेष्टाओं से अपने को छिपाये रखकर जीव की भाँति आचरण करते हैं। आपकी लीला परम आश्चर्यमयी है। प्रभो! बड़े–बड़े ऋषि–मुनि परिपक्व योग–साधना के द्वारा आपके चरणकमलों को हृदय में धारण करते हैं। उन्हीं चरणकमलों का आज हमें दर्शन हुआ है। आप हम पर अनुग्रह करिये।

इस प्रकार भगवान की स्तुति कर जब ऋषिगण अपने–अपने आश्रमों को जाना चाह रहे थे। तब श्री वसुदेव जी ने कहा–ऋषियों! आप लोग सर्व देव स्वरूप हैं। कृपया मुझसे उन कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश कीजिये जिससे कर्मवासनाओं का आत्यान्तिक नाश हो जाये।

ऋषियों ने वासुदेव जी से कहा–कर्मफलों का अत्यन्तिक नाश करने का सबसे अच्छा उपाय, यज्ञ आदि के द्वारा भगवान विष्णु की श्रद्धापूर्वक आराधना करें। त्रिकालदर्शी ऋषियों ने कहा–वसुदेव जी अब तक आप ऋषि और पितरों के ऋण से मुक्त हो चुके हैं। अब यज्ञों के द्वारा देवताओं का ऋण चुका दीजिये और भगवान के शरण हो जाइये। आपने अवश्य ही भगवान की आराधना की है तभी तो वे आप दोनों के पुत्र हुये हैं।

श्री वसुदेव जी अपने स्वजन तथा नन्दबाबा आदि के साथ बड़ा भारी यज्ञ समारोह किया। ऋषियों, ब्राह्मणों तथा स्वजनों का भरपूर स्वागत, भेंट आदि से सत्कार किया। वसुदेव जी ने नन्दबाबा का हाथ पकड़कर कहा–मेरे भाई! स्नेह, प्रेमपाश सबसे बड़ा बन्धन है इसे बड़े–बड़े शूरवीर योगी–यती भी तोड़ने में असमर्थ हैं। आपने हमारे बंदीगृह में रहते हुये जिस मित्रता का व्यवहार किया है, वह आप जैसे संतों का ही स्वभाव है। ऐसा कहते–कहते श्री वसुदेव जी भावविभोर हो गये। भगवान श्रीकृष्ण की अनुकम्पा से नन्दबाबा, गोपों और गोपियों का चित्त भगवान में इस प्रकार लग गया कि वे फिर प्रयत्न करने पर भी उसे वहाँ से अलग न कर सके। ऐसी मनोदशा लेकर वे सभी मथुरा लौटे। इधर वर्षा ऋतु आया देख सभी यदुवंशी भी द्वारिका लौट गये।

एक दिन प्रातःकाल जब वसुदेव जी एवं देवकी जी को प्रणाम करने, भगवान श्रीकृष्ण एवं बलराम जी गये तब वसुदेव जी ने कहा–सच्चिदानन्द कृष्ण! महायोगीश्वर संकर्षण। तुम दोनों सनातन हो। तुम दोनों सारे विश्व के कारणस्वरूप प्रधान और पुरुष के भी नियामक परमेश्वर हो।

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् संकर्षण सनातन।
जाने वामस्य यत् साक्षात् प्रधानपुरुषौ परौ।।3।।

(अ. 85 स्क. 10)

देखो अत्यन्त दुर्लभ मानव शरीर पाकर भी तुम्हारी माया के वश होकर स्वार्थ–परमार्थ को न जान सका। मेरी सारी आयु यों ही बीत गयी। प्रभो! तुमने प्रसव–गृह में ही हमसे

कहा था कि 'यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, फिर भी मैं धर्म मर्यादा की रक्षा करने के लिये प्रत्येक युग में तुम दोनों के द्वारा अवतार ग्रहण करता रहता हूँ। तुम्हारी आश्चर्यमयी शक्ति योगमाया का रहस्य भला कौन जान सकता है?

श्री वसुदेव जी के इन वचनों को सुनकर भगवान श्रीकृष्ण मुस्कराने लगे। उन्होंने विनय से मधुर वाणी से कहा—हम सभी ब्रह्मरूप ही हैं। पिताजी! आत्मा तो एक ही है। उपाधियों के भेद से ही नानत्व की प्रतीति होती है। इसलिये जो मैं हूँ, वही सब हैं।

भगवान श्रीकृष्ण के इन वचनों को सुनकर वसुदेव जी नानत्वबुद्धि छोड़ दी। वे आनन्दमग्न होकर वाणी से मौन और मन से निस्संकल्प हो गये। उस समय वहाँ बैठी देवकी जी को स्मरण हो आया कि श्रीकृष्ण और बलराम ने मरे हुये गुरुपुत्रों को यमलोक से वापस ला दिया था। अब उन्हें कंस द्वारा मारे गये अपने छः पुत्रों का स्मरण हो आया। उन्होंने करुणस्वर से श्रीकृष्ण एवं बलराम जी से कहा—तुम लोगों की शक्ति अपरिमेय है। श्रीकृष्ण तुम योगेश्वरों के भी ईश्वर हो। प्रजापतियों के भी ईश्वर हो। स्वयं आदि नारायण हो।

राम् रामाप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर।
वेदाहं वां विश्वसृजामी श्वरावादि पुरुषौ।।29।।

(अ. 85 स्कं. 10)

आज मैं सर्वान्तः—कारण से तुम्हारी शरण हो रही हूँ। तुम दोनों योगीश्वरों के भी ईश्वर हो। मैं चाहती हूँ कि तुम दोनों मेरे उन पुत्रों को, जिन्हें कंस ने मार डाला था, ला दो। मैं उन्हें भर आँख देख लूँ।

तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ।
भोजराजहतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमादृतान्।।33।।

(अ. 85 स्कं. 10)

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् ! माता की बात सुनकर भगवान श्रीकृष्ण और बलराम योगमाया का आश्रय लेकर सुतल-लोक में प्रवेश किया।

एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत।
सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ।।34।।

(अ. 85 स्कं. 10)

सुतल लोक के राजा बलि ने अपने इष्टदेव को आया देख आनन्दमग्न हो चरणों में गिरकर प्रणाम किया। उन्हें श्रेष्ठ आसन पर विराजमान कर विभिन्न प्रकार से पूजन अर्चन किया। अब गद्गद् कण्ठ से स्तुति करने लगे। बलराम जी आप अनन्त हैं। श्रीकृष्ण! आप जगत निर्माता, ज्ञानयोग और भक्तियोग के पर्वतक स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं। हम बार—बार आपको प्रणाम करते हैं।

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेध से।
सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने।।39।।

(अं. 85 स्कं. 10)

भगवन आप दोनों के दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं। आपकी कृपा से ही यह दर्शन सुलभ होता है। प्रभो! हम रजोगुणी तमोगुणी दैत्यों को भी दर्शन आज आपने दिया है। बड़े-बड़े योगेश्वरों के अधीश्वर भी आपकी योगमाया को नहीं जानते फिर हमारी तो बात ही क्या है?

इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर।
न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम्।।44।।

(अं. 85 स्कं. 10)

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–"दैत्यराज। स्वायम्भू मन्वन्तर में प्रजापति मरीचि की पत्नी उर्णा के गर्भ से छः पुत्र उत्पन्न हुये थे। वे सभी देवता थे। वे यह देखकर कि ब्रह्मा जी अपनी पुत्री से समागम करने के लिये उद्यत हैं, हँसने लगे। उन्हें ब्रह्मा जी ने श्राप दे दिया और वे हिरण्यकशिपु के पुत्र रूप में उत्पन्न हुये। वे ही अब योगमाया के प्रभाव से देवकी जी के गर्भ से पैदा होकर कंस के द्वारा जन्म लेते ही मारे गये। माता देवकी उन्हें देखना चाहती हैं। वे तुम्हारे पास हैं। माता का शोक दूर करने के लिये इन्हें यहाँ से ले जायेंगे। इसके बाद वे शाप से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक अपने लोक में चले जायेंगे। इतना कह भगवान श्रीकृष्ण चुप हो गये। इसके बाद श्रीकृष्ण व बलराम जी उन्हें लेकर द्वारिका लौट आये तथा माता देवकी को उनके पुत्र सौंप दिये। पुत्रों के स्पर्श आनन्द से सरोबोर देवकी ने उनको स्तन-पान कराया। वे भगवान की माया से मोहित हो रही थीं। उन बालकों को भगवान श्रीकृष्ण के संस्पर्श से आत्मसाक्षात्कार हो गया। वे देव लोक को चले गये। भगवान श्रीकृष्ण के अद्भुत चरित्र इतने हैं कि उनकी गणना करना असम्भव है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

सच्चे शिष्य की चाहत

—अन्तराम यादव, प्रयागराज

प्रातः स्मरणीय योग योगेश्वर अनन्त श्री दादा गुरुदेव एवं सद्गुरुदेव भगवान के कमलवत् चरणों में नमन करते हुए सर्वप्रथम योगेश्वरव्दय से यही करबद्ध प्रार्थना है कि कोरोना की इस भयंकर जानलेवा महामारी से मानव की रक्षा करें क्योंकि वे ''कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्'' की शक्तिवाले हैं और उनके संकल्प मात्र से सब कुछ सम्भव है।

श्री सद्गुरुदेव भगवान की करुणा कृपा से मन में यह विचार आया कि लेखनी के माध्यम से आप सभी भाई–बहनों के पास पहुँचा जाये और साथ ही साथ भाव यह भी बना कि एक छोटे से विषय पर आप सबके साथ चिंतन–मनन भी किया जाये जिससे गुरु भक्तों के हृदय में सद्गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा जागृत हो। आप सबसे मैं यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि जो कुछ मैं लेखनीबद्ध करने जा रहा हूँ, वह सब सद्ग्रन्थों एवं सन्तों की वाणी पर आधारित है।

हमारे सद्ग्रंथ एवं संत ऐसा कहते हैं कि सद्गुरु की शरण ग्रहण किये बिना जीव का कल्याण सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, निगुरे यानी जिसने गुरु–दीक्षा नहीं ली है उसके हाथ से भिक्षा भी नहीं लेनी चाहिए। ऐसा सुन कर एक नये साधक अथवा जिज्ञासु के मन में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि बिना सद्गुरु के जीव का कल्याण क्यों नहीं हो सकता? यदि सद्गुरु की शरण में जाना आवश्यक है तो अपने सद्गुरु को ढूंढें कैसे? कैसे मिलें सद्गुरु? किसके चरणों में करें अपने समर्पण की साधना ? सद्गुरु की पहचान कैसे हो? उनके सानिध्य एवं उनकी कृपा का अनुभव किस भाव से किया जाये? आइये हम सब एक–एक प्रश्न पर संक्षेप में विचार एवं चिन्तन करें।

हमारे सद्गुरु भगवान यह कहा करते थे कि मन अत्यन्त चंचल होने के कारण कभी सोचता है–मैं इस मंत्र का जप करूँ, कभी सोचता है–उस मंत्र का जप करूँ। कभी सोचता है–ऐसे ध्यान करूँ, कभी सोचता है–वैसे ध्यान करूँ। कभी सोचता है–इस देवता की पूजा करूँ, कभी सोचता है, उस देवता की पूजा करूँ। इस प्रकार वह साधक उहापोह की स्थिति में पड़ा रहता है। उसकी साधना अँधेरे में तीर चलाने जैसे दिशाहीन रहती है। इस उहापोह की स्थिति को दूर करने के लिये ही सद्गुरु की शरण–ग्रहण करना अवश्य हो जाता है। सद्गुरु की शरण ग्रहण करने के बाद वे जैसा बता दें, साधक वैसा करे। जो मंत्र बतायें उसी को सर्वोत्तम मानकर केवल उसी मंत्र का जप करे, ध्यान

की जो विधि बतायें उसी का अक्षरशः पालन करे साथ ही साथ एक निष्ठ होकर मन में ऐसी श्रद्धा–भाव बनाये कि हमारा मंत्र सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है, हमारे सद्गुरुदेव सारे संसार के गुरु हैं और उनके द्वारा निर्देशित मार्ग साधना का सर्वोत्तम मार्ग है। इस प्रकार उस नये साधक को साधना की एक निश्चित दिशा मिलती है जिस पर चल कर एक दिन वह साधक अपनी साधना की अन्तिम मंजिल अर्थात् कल्याण पद को प्राप्त कर लेता है, इसमें शंका की कोई बात नहीं।

जहाँ तक सद्गुरु देव के ढूंढ़ने का प्रश्न है–कभी–कभी संस्कारवश ऐसा संयोग बनता है अथवा जब जिज्ञासु के मन में सद्गुरु प्राप्ति की तीव्र लगन एवं तड़प पैदा हो जाती है तब शिष्य नहीं सद्गुरु स्वयं किसी न किसी माध्यम से प्रेरित करके शिष्य को अपने पास बुला लेते हैं, ऐसी अनेक घटनाएँ हमने सुना है और स्वयं का अनुभव भी है। एक छोटी सी सच्ची घटना का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है। एक बालक के मन में सद्गुरु प्राप्ति की जिज्ञासा सदैव बनी रहती थी परन्तु उसे कोई मार्ग सुझाई नहीं देता था कि क्या करें? इसी उधेड़बुन में तड़पते हुए उसका जीवन बीत रहा था। एक दिन अनायास उसके गाँव में एक बाबा आये। बाबा का सुन्दर सुडौल शरीर, सफेद बाल, ज्योति बिखेरती आँखें, आशीर्वचन सुनाते होंठ, उसने जब पहली बार देखा तो वह बालक देखता ही रह गया। वह समझ नहीं पा रहा था कि क्या कहे और कैसे कहे? उसने बस इतना ही सुना कि बाबा को लोग परम हंस देव कह रहे हैं। वह बालक जब बाबा के पास जाने के लिए सोचा तो किसी ने उसे जोर का धक्का दे दिया, पर बाबा ने अपने बलिष्ठ हाथों से उसे सँभाल लिया। वह तो बस डर के मारे उनसे लिपट गया। भीड़ जब बाबा के पास से विदा हुई तब बाबा ने कहा–बेटा! डरो मत! उस बालक के सिर को सहलाते हुए बाबा ने कहा–बेटा! इस गाँव में मैं केवल तुम्हारे लिए ही आया हूँ। उस बालक को ऐसा लगा जैसे उसे अपने अभीष्ट की प्राप्ति हो गई। उस बाबा को सद्गुरु रूप में स्वीकार कर उनके द्वारा निर्देशित साधना में तीव्र संवेग से लग गया। धीरे–धीरे वह असाक्तियों से रहित हो गया। उसका जीवन एकाकी, निःस्पृह, शान्त और स्थिर हो गया। उसे इच्छित वस्तु मिले या फिर न मिले, उसे ज्यादा मिले या कम मिले, इस चिन्ता को छोड़कर वह सभी कामनाओं से रहित, शान्त–चित्त एवं आत्म–संतुष्ट होकर गुरु प्रदत्त मार्ग पर पूर्ण निष्ठा के साथ चलते हुये एक दिन अध्यात्म की उच्चतम् स्थिति को प्राप्त किया।

अब जिज्ञासु का अगला प्रश्न की सद्गुरु की पहचान कैसे की जाये। गुरु गीता के कई श्लोकों में गुरु क्या हैं? उनके लक्षण क्या हैं? उनकी सही पहचान क्या है? इन सभी प्रश्नों का निरूपण भली–भाँति किया गया है। उनमें से एक श्लोक का थोड़ा सा अंश है–"**द्वन्द्व ताप निवारकम्**"। हमारा आप का थोड़ा बहुत अनुभव अवश्य होगा–जब हम अनेक परेशानियों से घिरे रहे होंगे, मन अत्यन्त अशान्त रहा होगा तब मन में अनक प्रश्नों

को लेकर सद्गुरु देव भगवान के पास गये होंगे। उनके समक्ष आते ही ऐसा अवश्य अनुभव हुआ होगा कि जिस उहोपोह की स्थिति से हम ग्रसित थे, उनका समाधान अपने आप होता हुआ नजर आया होगा। मन एक अद्भुत शान्ति का अनुभव किया होगा। गुरुदेव के कुछ अमृत वचन से बिना पूछे ही हमारे प्रश्नों का उत्तर मिल गया होगा। सद्गुरु अथवा सच्चे सन्त की यही पहचान है कि उनके सानिध्य से ही मन बिल्कुल शान्त हो जाये और जिन द्वन्द्व–तापों से हम ग्रसित थे उनका निवारण स्वयमेव हो जाये।

जिज्ञासु का अगला प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है कि सद्गुरु की प्राप्ति एवं उनकी कृपा का अनुभव किस भाव से किया जाये या यूँ कहें कि सद्गुरु की शरण–ग्रहण करने का हमारा मूल उद्देश्य क्या होना चाहिए–''संसार पाने के लिए अथवा संसार से मुक्त होने के लिए।'' इस तथ्य पर साधक/शिष्य को बार–बार विचार करना चाहिए। इस पर विचार न करने पर शिष्य के लिए सद्गुरु का मिलना व्यर्थ एवं अर्थहीन हो जाता है। प्रायः ऐसा होता है कि हम सद्गुरु को भी संसार से जोड़ कर देखते हैं और इस माप–दण्ड पर सद्गुरु की सत्यता का मापन करते हैं। यह सर्वथा बिल्कुल उचित नहीं है। ऐसा शिष्य बार–बार यही सोचता है कि सद्गुरु से मिलने के बाद उसे कितनी सांसारिक सफलताएँ या विफलताएँ प्राप्त हुईं। कभी–कभी लगातार विफलताओं के मिलते रहने पर शिष्य गुरुदेव के प्रति श्रद्धाहीन हो कर अपने को गुरुदेव से दूर कर लेता है। जबकि शिष्य को यह सोचना चाहिए, उसकी सच्ची चाहत यह होनी चाहिए कि सद्गुरु प्राप्ति के बाद उसका अन्तःकरण कितना निर्मल, अनासक्त एवं निष्काम हुआ। जब शिष्य का मन निर्मल होता जाये, उसके जीवन में सरलता, सहनशीलता, क्षमाभाव, क्रोध का अभाव, लोभ का अभाव, आत्म–संतुष्टि और मन की शान्ति का उत्तरोत्तर बढ़ते रहना ही सद्गुरु की प्राप्ति एवं साधना की सच्ची कसौटी है। यदि शिष्य में इन गुणों का विकास स्वाभाविक रूप से हो रहा है तभी सही मायने में सद्गुरु की प्राप्ति एवं उनकी शरण–ग्रहण करना सार्थक सिद्ध होती है। हम स्वयं अपने से प्रश्न करें कि कितनी बार हम सद्गुरुदेव भगवान के पास यह चाहत लेकर गये कि हे सद्गुदेव! हमें सद्गति चाहिए, जनम–मरण के दुख से छुटकारा चाहिए, मोक्ष या कल्याण चाहिए। जब भी हम गये होंगे, यही चाहत लेकर गये होंगे–गुरुदेव हमें पुत्र चाहिए, नौकरी चाहिए, नौकरी दूर है तो निकट स्थानान्तरण चाहिए, अस्वस्थ हैं तो निरोगता चाहिए, सम्पन्नता चाहिए आदि–आदि। संसार की कामना से ही गुरुदेव के पास गये होंगे, परमार्थ की चाहत से गुरुदेव के पास शायद कभी नहीं गये होंगे।

इसी प्रसंग में महाभारत की एक कथा का उल्लेख करना उचित होगा। जैसा कि हम सभी को विदित है कि माता कुन्ती भगवान श्रीकृष्ण की सगी बुआ थीं। उनके सम्पूर्ण जीवन में एक के बाद एक नये कष्ट आते रहे। पति पाण्डु एवं सखी माद्री की मृत्यु के बाद बहुत दिनों तक वे पाँचों पाण्डवों के साथ वन का दुःख झेलती रहीं। अन्त में महात्मा भीष्म

के बुलावे पर उनका हस्तिनापुर आना हुआ और यहीं से कौरवों का कुचक्र शुरू हुआ। लक्षागृह–वरणावत का अग्निकाण्ड, छल से पाण्डवों को खाण्डव प्रस्थ का बीहड़ वन दिया जाना और पुनः जुए के कुटिल खेल का प्रारम्भ। इसमें द्रौपदी का अपमान और पाण्डवों को पुनः वनवास। वन में बारह वर्षों तक निरन्तर कष्टों को सहन करना, अज्ञात वास का कष्ट और फिर प्रारम्भ हुआ महाभारत का महासंग्राम। इसके बाद कुन्ती का पुनः वन गमन और वहीं उनकी मृत्यु।

इससे पूर्व इतनी दुःसह व्यथा सहने वाली कुन्ती से भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–बुआ! आज मैं तुम्हें वरदान देना चाहता हूँ, बताओ तुम्हें क्या वरदान चाहिए? बड़ी विनम्रता के साथ कुन्ती ने कहा–हे केशव! यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं तो मुझे दुखों का वरदान दीजिए। मैं केवल दुख चाहती हूँ केशव। कुन्ती के मुख से ऐसी वाणी सुनकर चकित कृष्ण ने उनसे जानना चाहा कि–इतने विकट दुखों के बाद फिर से दुखों की चाहत क्यों है बुआ? तब वे बोलीं–हे केशव! जीवन के दुखों में आप की बहुत याद आती है और हे भक्त वत्सलप्रभु! मैं कभी आप को भूलना नहीं चाहती। सो हे जनार्दन! वे दुख मुझे बहुत अच्छे लगते हैं, जो आपकी याद दिलाते रहते हैं। जरा ध्यान दीजिए, कुन्ती ने संसार का सुख वैभव वरदान में नहीं माँगा बल्कि एक तरह से वरदान में भगवान को ही माँग लिया जो कल्याण के मूल एवं परमधाम हैं। भोग एवं मोक्ष दोनों को प्रदान करने वाले हैं।

बस यही सच्चे शिष्य की चाहत होनी चाहिए जिसे वह सद्गुरु से कहता है और उनसे माँगता है। जो इस तत्व एवं सत्य को जानता है–वही सच्चा शिष्य कहलाने योग्य है और तभी सद्गुरु का सानिध्य एवं उनकी कृपा की उपयोगिता एवं सार्थकता सिद्ध होती है।

मेरे आदरणीय भाई–बहन मैं अल्पज्ञ हूँ। यदि लेख में कहीं त्रुटि हो गई हो तो मैं उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। निम्नांकित चन्द पंक्तियों के साथ मैं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ–

''जैसे भी हैं हम हैं तुम्हारे, गुरुवर हमें स्वीकार करो।
गुरु भक्ति की तड़प जगाकर, भव–सागर से पार करो।।''

सादर जयगुरुदेव।

सद्गुरुदेव का एक अकिंचन बालक–
अन्तराम यादव
301, न्यू मेंहदौरी, तेलियर गंज, प्रयागराज–211004
फोन–9936678368

मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि–

शक्तिपात एवं कुण्डलिनी जागरण

–ब्रह्मचारी श्री सूरजप्रकाश

मानव जीवन का उद्देश्य ''आत्म–साक्षात्कार'' या ईश्वर प्राप्ति है। मनुष्य इस अमूल्य वस्तु को प्रायः भूल गया है, सहज मानवता को भी छोड़ता जा रहा है। आज का मानव मानो वह अकेला ही सुख भोगता हुआ जीवित रहेगा। इसी कुविचार के परिणाम से आज जगत में चारों ओर संघर्ष, द्वेष, वैर, हिंसा, विध्वंस, विनाश, उग्रवाद इत्यादि घोर अन्याय की उधेड़–बुन में व्यस्त एवं दुःखी है, सभी कुपथ पर चल रहे हैं। यदि कोई परमार्थ में होने का दम्भ करते हैं तो वे भी तामसी उपासनाओं, सिद्धियों में अन्धे होकर पतन के मार्ग पर चल रहे हैं।

इस दशा स्थिति में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो मानव जीवन की वास्तविक सफलता के लिए इच्छा रखते हैं।

सही अर्थों में वास्तविक जीवन दर्शनों पर आधारित है। दर्शनों में भी 'योग–दर्शन' का व्यक्ताव्यक्त रूप से विशेष सहयोग है। योग विषय इतना अधिक है कि उसका एकांश भी कई ग्रन्थों में प्रकाशित नहीं किया जा सकता तथापि श्री सद्गुरुदेव जी की कृपानुकम्पा एवं आज्ञा से योग के इस परमोपयोगी अतिगूढ़ रहस्य पर प्रत्यक्षतः संकेत रूप में प्रकाश डालने की बाल चेष्टा करूँगा। जो योगी इस साधना को सम्पन्न कर लेता है, उसके लिए जीवन में अन्य साधना बाकी नहीं रहती।

इसकी साधन क्रियायें थोड़ी कठिन अवश्य हैं, पर असम्भव नहीं। पुस्तकों के माध्यम से यह कला नहीं सीखी जा सकती, इसके लिए तो योग्य गुरु के चरणों में बैठना होगा। यह साधना अपने अन्दर षट्चक्रों को जागृत करने से सम्बन्ध रखती है।

गुरु–चरणों में बैठकर उनसे धारणा, ध्यान और समाधि की स्थिति सीखनी होगी, हमारे शरीर में कौन–कौन से चक्र कहाँ–कहाँ पर स्थित हैं? किस प्रकार इन चक्रों–मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र के बारे में श्री गुरु–मुख से जानकारी प्राप्त करें। श्री गुरुमुख से प्राप्त विद्या की उपासना से ही सिद्धि का अधिकारी बनाया जा सकता है, क्योंकि शिवजी का वचन है–

पुस्तके लिखिता विद्या,
नैव सिद्धिप्रदा नृणाम्।
गुरुं विनापि शास्त्रेऽस्मि–

न्नाधिकार: कथंचन।।

अर्थात् पुस्तक में लिखी विद्या मनुष्यों को सिद्धि नहीं देती। शास्त्रों में बिना गुरु के उपदेश के किसी प्रकार के कार्य का अधिकार नहीं है।

अतः जब उपासना की इच्छा जागृत हो, तब श्री सद्गुरु से विधिवत् योग–दीक्षा लेकर साधना करनी चाहिए। इस कार्य में मुख्य श्रद्धा और भावना है। श्री गुरुदेवजी के चरणों में विशेष श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि वचन है–

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे,
दैवेसे भैषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य,
सिद्धिर्भवति तादृशी।।

अर्थात् मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषधि तथा गुरुदेव में जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।

इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर अपने प्रयत्नों से ही उन चक्रों को जागृत करें। इस प्रकार कुण्डलिनी जागृत कर जीवन के अनेक संतापों से मुक्ति पाकर आनन्द में जीवन व्यतीत करें।

इस समय बहुत ही कम संख्या में ऐसे योग्य योगी महापुरुष एवं सन्त होंगे, जिनकी कुण्डलिनी जागृत हो और जिनकी इतनी हिम्मत हो कि वे अपने शिष्य या साधक की कुण्डलिनी जागृत कर सकें।

पूर्ण शक्ति का मूल आधार चेतना केन्द्रनाभि है और नाभि के अन्दर की ओर मूलाधार चक्र है। गुरुदेवजी की निगरानी में विशेष तरीके से शोधन क्रियाएँ नेति–धौति बस्ति आदि के साथ–साथ प्राणायाम कर मूलाधार चक्र जागृत कर साधक नये जीवन का अनुभव करता है। अद्भुत चमत्कार आनन्द का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार कुछ और विशेष क्रियाओं द्वारा आगे अन्य स्वाधिष्ठान आदि चक्रों को जागृत करता हुआ शिष्य सहस्त्रार की ओर बढ़ता है। इसी सिद्ध क्रिया को कुण्डलिनी जागरण कहते हैं। गुरु साहचर्य एवं शक्तिपात–

संसार की अन्य साधनाएँ तो गुरु–मुख से शास्त्र पढ़कर अपने–अपने स्थान पर सम्पन्न की जा सकती हैं, परन्तु कुण्डलिनी जागरण साधना तो गुरुदेव के चरणों में बैठकर सीखने से ही प्राप्त होती है।

गुरुदेव अपनी दिव्य शक्ति का संचार कर चक्रों में क्रिया उत्पन्न कर शिष्य को सिद्ध बनाते हैं। सभी सिद्धयोगियों ने इन क्रियाओं को बड़ी सावधानी एवं कठिनाई से सीखा है। सही गुरु का मिलना अत्यधिक कठिन है और गुरु मिल भी जाएँ तो भी उनसे यह परम ज्ञान प्राप्त करना और भी कठिन है। इसलिए शक्ति जागरण की साधना योगी की

सर्वश्रेष्ठ साधना कही गई है।

शास्त्रों में मानव-जीवन का महत्त्व सर्वोपरि कहा गया है–

दुर्लभो हि मानुष्यं जन्म।

यदि जीवन पाकर भी मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त नहीं करता, तो उसका जीवन व्यर्थ ही चला जाता है। बहुत ही भाग्यशाली बिरले व्यक्ति इस जीवन की सार्थकता प्राप्त करने में सफल हो पाते हैं।

योग-मार्ग का प्रत्येक साधक यह जानता है कि शक्तिपात जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। जिस साधक के भाग्य उदय होते हैं, उस पर विशेष कृपा होती है और उसे सिद्ध गुरु के द्वारा शक्तिपात सहज ही प्राप्त हो जाता है।

शक्तिपात क्या है?

जो शिष्य श्री गुरुदेव जी की सेवा व साधना में निरन्तर सफलता पाना चाहता है तथा जिसने कुछ अनुष्ठान भी किये हों, तब गुरुदेवजी प्रसन्न होकर अत्यधिक कृपानुकम्पा करते हुए अपने शरीर स्थित तपोबल से कुछ विशेष शक्ति उस शिष्य को प्रदान कर देते हैं। जिससे वह साधक अपनी योग-साधना के क्षेत्र में पूर्ण सफलता तथा अनेक योग की सिद्धियाँ प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। इस प्रकार की शक्ति के रूपान्तरण की क्रिया को शक्तिपात कहते हैं। यह क्रिया इतनी सहज नहीं है, जितनी की यहाँ लिखी या पढ़ी जा रही है।

श्री गुरुदेव अपने शिष्य को सामने बिठाकर अपने दिव्य शरीर द्वारा शक्ति को केन्द्रीभूत कर, नेत्रों के माध्यम से, कर-कमलों के स्पर्श से अथवा शिष्य को अपने हृदय से लगाकर शिष्य के शरीर में उस विशेष साधनात्मक शक्ति को रूपान्तरित कर देते हैं। ज्यों ही यह शक्तिपात होता है, त्यों ही साधक को आनन्दयुक्त अद्भुत अनिर्वचनीय अनुभव तुरन्त होने लगते हैं।

थोड़े ही समय के अन्तराल में योग-साधक ब्रह्मत्व सिद्धि एवं सभी साधनाओं में पूर्णता अपने सिद्धता हस्तगत कर लेता है। इस प्रकार ऐसा योगी-योगियों में सर्वश्रेष्ठ एक पूर्ण सिद्ध बन जाता है। आगामी निबन्धों में क्रमशः शक्ति-जागरण क्रम क्या? हठयोग की प्रक्रियाओं में कुण्डलिनी-जागरण सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। आयुर्वेद और ज्योतिष प्रक्रियाओं का शक्ति-जागरण में सहयोग कैसे इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला जायेगा।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

—श्री सुरेन्द्र बहादुर सिंह एम. ए.

बहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि, न त्वं वेत्थ परंतप।। *—गीता 4/5*

'हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, परन्तु उन सबको तू नहीं जानता है और मैं जानता हूँ।' भगवान श्रीकृष्ण के इन वचनों के द्वारा पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है। सभी भारतीय दार्शनिक प्रणालियाँ (चार्वाक को छोड़कर) यह स्वीकार करती हैं कि पुनर्जन्म का चक्र आदिकाल से मनुष्य कृत कर्म के आधार पर संचालित होता है। मनुष्य जो भी कर्म करता है, उस कर्म का फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। यदि कर्म शुक्ल (शुभ) हैं, तो सुख की प्राप्ति होगी और यदि कर्म कृष्ण (अशुभ) हैं, दुःख की प्राप्ति होगी। जब एक मनुष्य जन्म में किये गये सारे कर्मों का फल वर्तमान जीवन में प्राप्त करना संभव नहीं हो पाता तो उसे अन्य मनुष्य योनि या मनुष्येतर योनि में प्राप्त करने के लिए जन्म लेना पड़ता है। जब तक कर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक जन्म–मरण का चक्र चलता रहता है। यही है पुनर्जन्म का सिद्धान्त।

आधुनिक काल में पुनर्जन्म का सिद्धान्त एशिया महाद्वीप के बहुत बड़े भाग में एक सामान्य मान्यता के रूप में स्वीकृत है। प्राचीन काल में यह सिद्धान्त सारे संसार में व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता था, किन्तु सन् 543 ई. कुस्तुन्तुनियाँ के ईसाई धर्म–सम्मेलन ने इसे अस्वीकार कर दिया, जिसके फलस्वरूप पश्चिमी देशों में अमान्य हो गया था, परन्तु यह सिद्धान्त इतना युक्ति संगत है कि आधुनिक काल में पश्चिम के लोगों ने पुनः इसे स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त द्वारा अनेक जटिल दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है तथा जीव विज्ञान के अनेक अव्याख्यात तथ्यों की भी व्याख्या हो जाती है। यही कारण है कि आधुनिक काल में इस सिद्धान्त को व्यापक मान्यता मिल रही है। प्राचीन काल में यूनानी विचारों में जोरोस्ट्रियन धर्म शास्त्रों में, पारसी धर्म के उपदेशों में तथा ईसाई धर्म के प्राचीन पादरियों तथा जस्टिन मार्टर, सेण्टक्लीमेण्ट आदि के उपदेशों में तथा सूफी संतों एवं कवियों की रचनाओं में इस सिद्धान्त के प्रति विश्वास के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं, परन्तु इसका लिखित प्रमाण सर्वप्रथम वेदों में मिलता है। वैदिक काल के लोगों का यह विश्वास था कि दाह–संस्कार के साथ मनुष्य की दृष्टि सूर्य में, श्वांस वायु में, वाणी अग्नि में तथा उसके विभिन्न अवयव प्रकृति के विभिन्न अवयवों में विलीन हो जाते हैं। आत्मा अपने शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल दूसरे लोकों में जाकर प्राप्त करता है। वेदों में कुछ स्थलों पर आत्मा के वृक्षादि शरीरों में भी प्रवेश करने की चर्चा है।

किन्तु वेदों की अपेक्षा उपनिषदों ने पुनर्जन्म का अधिक विशद एवं स्पष्ट विवेचन किया है। प्राचीनतम उपनिषदों में छांदोग्य ने पितृयान और देवयान इन दो मार्गों का वर्णन आया है, जिनसे होकर मनुष्य की आत्मा मृत्यु के उपरांत गमन करती है। पितृयान मार्ग से गमन करने वाली आत्माओं का इस संसार में पुनरावर्तन (पुनर्जन्म) होता है, किन्तु देवयान मार्ग से जाने वाली आत्माओं का पुनरावर्तन नहीं होता। पितृयान को दक्षिणायन और देवयान को उत्तरायण नाम से भी अभिहित किया गया है। जो मनुष्य अपने जीवन में शुभ कर्म करते हैं, परोपकार एवं दानादि कर्म करते हैं, वे पितृयान के अधिकारी होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अध्याय 5, खण्ड 10 में कहा गया है–

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ति दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रा वि ँ रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड् दक्षिणैति मासा ँस्तान्नैते संवत्सरमभि प्राप्नुवन्ति।।3।।

अर्थात् जो गृहस्थ लोग ग्राम में इष्ट, पूर्त और दत्त ऐसी उपासना करते हैं, वे धूम को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष को तथा कृष्ण पक्ष से जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिण मार्ग से जाता है उनको प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते। आगे चलकर कहा गया है कि ये लोग दक्षिणायन महीनों से पित–लोक को, पितृ–लोक से आकाश को और आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। वहाँ पर वे पशु, स्त्री एवं सेवक आदि के समान देवताओं के उपकरणमात्र होते हैं, जब तक इन आत्माओं के पुण्य कर्म समाप्त नहीं होते, तब तक ये चन्द्रलोक में आनन्द लेती रहती हैं, किन्तु पुण्य के समाप्त होने पर आकाश, वायु, धूम, धुन्ध, मेघ, वर्षा, वनस्पति एवं बीज से होती हुई भोजन के माध्यम से ये पुरुष में प्रवेश पाकर माँ के गर्भ में प्रवेश करती हैं और पुनः जन्म लेती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मायें परलोक में कर्मों का भोग भी भोगती हैं तथा पुनर्जन्म भी लेती हैं। ठीक इसी प्रकार का वर्णन वृहदारण्यक उपनिषद् (जो अति प्राचीन उपनिषद् है) में भी आता है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास के अभाव का एकमात्र कारण है पुनर्जन्म की विस्मृति। परन्तु विस्मृति किसी सत्य को असिद्ध करने का आधार भला कैसे हो सकती है? हमारा अस्तित्व क्या हमारी स्मृति पर निर्भर है? हमें इसी वर्तमान जीवन के अनेक क्षण, अनेक अवसर, अनेक स्तर विस्मृत हो चुके हैं। अतः उन्हें याद न रहने के आधार पर नकारा नहीं जा सकता। हमें अपनी शैशवावस्था के दिन याद नहीं रहते। तो क्या इसीलिए हम कह सकते हैं कि हम कभी शिशु थे ही नहीं? जब हमें इसी जीवन के अनेक भाग याद नहीं हो रहे हैं तो पिछले जन्म का याद न रहना कौन सा आश्चर्य है? यह भी एक प्रकार से ठीक ही है जो कि हम अपने पिछले जन्मों को भूले हुए हैं अन्यथा हमारा वर्तमान जीवन अनेक उलझनों और विपत्तियों से भर जाता। यद्यपि सामान्य मानव प्राणी अपने विगत जन्मों को भूला हुआ है तथापि प्राचीन काल से लेकर आज तक कुछ न कुछ ऐसे असाधारण मनुष्य भी उत्पन्न होते रहे हैं, जिन्हें अपने पिछले जन्मों की स्मृति रही है।

वर्तमान काल में इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण हैं–राजस्थान में एक विश्वविद्यालय के पैरासाइकोलॉजी विभाग के प्रो. बनर्जी ने इकट्‌ठे किये हैं। कोई भी मनुष्य अपने विगत जन्मों को योग–साधना द्वारा प्रत्यक्ष देख सकता है, जिसका उपाय महर्षि पतंजलि जी ने योग–सूत्र में इस प्रकार बतलाया है–

संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वजाति–ज्ञानम्।

अर्थात् संस्कार के साक्षात् करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। 'समन्नफलसूत्त' ग्रंथ के अनुसार गौतम बुद्ध को अपने अतीत के समस्त जन्मों का स्मरण हो गया था।

प्रायः सभी धर्म मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं, परन्तु मृत्यु के बाद का अस्तित्व जन्म के पूर्व के अस्तित्व को पूर्व मान्यता प्रदान करता है। जो मृत्यु के परे होगा, वह जन्म के परे भी अवश्य होगा। उसका होना भौतिक शरीर की उत्पत्ति तथा विनाश पर निर्भर नहीं करता। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक डेविड ह्यूम ने अपनी पुस्तक "The Immortality of Soul" में लिखा है कि "अतः यदि आत्मा अमर है, तो यह मानना पड़ेगा कि वह जन्म के पूर्व भी विद्यमान था और यदि उसका पूर्व अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता तो भावी अचिन्त्य हो जाता है।" यदि ईसाई धर्म–ग्रन्थों के अनुसार अनन्त जीवन सत्य है तो यह भी निश्चय रूप से सत्य है कि आत्मा अतीत में भी अनादि था। स्वामी विवेकानन्द ने इसी बात को लक्ष्य करके लिखा है–

"If you are going to exist in enternity heareafter it must be that you have existed through enternity in the post; it can not be otherwise."

यदि हम कहें कि जीवन अनन्त है, यद्यपि यह प्रारम्भयुक्त है, तो यह बात युक्तिसंगत नहीं होगी, क्योंकि जिसका प्रारम्भ काल के अन्तर्गत होता है, उसका अन्त भी अवश्य ही काल के अन्तर्गत होता है। वह काल के परे नहीं जा सकता। जो काल के परे था, वही काल के परे होगा।

आधुनिक जीव वैज्ञानिक पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते। वे व्यक्तियों के विकास, स्वभाव एवं व्यवहार की व्याख्या वंशानुक्रम तथा वातावरण के सिद्धान्त द्वारा करते हैं, किन्तु कर्मवाद यह कहता है कि मनुष्य के पिछले जन्मों के कर्मों के संस्कारों के द्वारा उसके वर्तमान जन्म की सारी विशेषताएँ निर्धारित की जाती हैं। मनुष्य का स्वभाव उसके विशेष गुण, उसकी प्रतिभा की मात्रा इत्यादि उसके पिछले जन्मों के अभ्यास का परिणाम है, किन्तु जीव–विज्ञान कहता है कि ये सब चीजें मनुष्य के अपने माता–पिता के वंशानुक्रम के रूप में तथा वातावरण के प्रभाव से प्राप्त होती हैं। यदि जीव वैज्ञानिकों की बात को हम सत्य मान लें तो अनेक ऐसे प्रश्न उठ खड़े होते हैं, जिनके उत्तर इन वैज्ञानिकों के पास नहीं होते। उदाहरण के लिए, क्या कारण है कि एक ही माता–पिता से उत्पन्न बालकों के स्वभाव व प्रतिभाओं में विरोधात्मक अन्तर होता है? दो जुड़वां बालक एक ही वातावरण में पाले जाने के उपरान्त भी गुण और स्वभाव में वैषम्य रखते हैं? क्या कारण है कि कभी–कभी आदि शंकराचार्य, अरस्तू और विलियम हैमिल्टन जैसे अप्रतिम

प्रतिभावान उत्पन्न हो जाते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर इन वैज्ञानिकों के पास है 'Chance' या 'आकस्मिक'। परन्तु विज्ञान ही यह भी कहता है कि–

"Nothing can happen without a cause."

"Every event has a sufficient cause for it."

कर्म का सिद्धान्त भी कहता है कि कोई भी कार्य, कोई भी घटना, कोई भी परिवर्तन बिना पर्याप्त कारण के नहीं हो सकता है। यदि विलियम हैमिल्टन तेरह वर्ष की अवस्था में ही तेरह भाषायें धारा प्रवाह बोल लेता था तो क्या उसमें यह योग्यता उसके माता–पिता से संक्रमित हुई थी अथवा परिवेश से प्राप्त हुई थी? यदि हाँ, तो अन्यों को क्यों नहीं प्राप्त हुई? इन सब प्रश्नों का उत्तर पूर्व जन्म को स्वीकार करके कर्म के सिद्धान्त द्वारा ही दिया जा सकता है।

वास्तव में आत्मा अमर है, अनादि है और अनन्त है। यह अनादि काल से जन्म–मृत्यु के चक्र में पड़ा है। जब तक वह इस चक्र में पड़ा है तब तक इसकी संज्ञा–जीवात्मा है। मुक्ति के पश्चात् यद्यपि इसका पुनर्जन्म नहीं होता, फिर भी यह अस्तित्व में रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है–

न त्वेवाहं जातु नासं, न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः, सर्वेवयमतः परम्।। *–गीता 2/12*

अर्थात् न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। *–गीता 2/22*

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर अन्य नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को ग्रहण करता है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म के सिद्धान्त का पूरक है। मनुष्य अपने कर्मों का भुगतान करने के लिए ही पुनर्जन्म ग्रहण करता है। कर्म का सिद्धान्त ही जीव को जन्म–मृत्यु के चक्र में बाँधता है। जब तक मनुष्य इस संसार के प्रति आसक्त बना रहता है, तब तक कर्म उसे बांधे रहते हैं, किन्तु जब वह अपने वास्तविक आत्म–स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तो कर्म का बंधन छूट जाता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया पर भी विचार करना यहाँ असंगत न होगा। इस प्रक्रिया के बारे में हम ऊपर छांदोग्योपनिषद् का उदाहरण दे चुके हैं, परन्तु वह उतना पर्याप्त व स्पष्ट नहीं है, जितना कि पुराणों में दिए गये वर्णनों से स्पष्ट होता है। कर्मपाश में बँधे हुए स्वर्ग आदि में पुण्य–कर्मों का फल भोग कर तथा नरक यातनाओं में पापों का अत्यन्त दुःखदायी फल भोगकर क्षीण हुए कर्मों के अवशेष भाग से इस लोक में आकर स्थावर, जंगम योनियों में जन्म लेते हैं।

पूर्व प्रकाशित से आगे–

योग-चिकित्सा

श्री गिरीशदेव वर्मा

सर्वांगासन

सर्वांगासन के द्वारा सबसे अधिक प्रभाव थोरायड ग्रन्थियों पर पड़ता है और वह स्वस्थ बने रहते हैं। थोरायड के स्वस्थ रहने से सारा शरीर स्वस्थ रह सकता है। थोरायड एक नली विहीन (Ductless gland) ग्रन्थि है। शरीर में कुछ ग्रन्थियाँ नली विहीन होती हैं जैसे थोरायड, पैराथोरायड, प्लीहा, अण्डकोष आदि। यकृत नली युक्त ग्रन्थि है। जिन ग्रन्थियों में नलिका होती है वे अपने रस को दूसरे अंगों में प्रवाहित करती हैं। नली विहीन ग्रन्थियाँ अपने रस को सीधे रक्त में डालकर पोषण करती हैं। इन सब ग्रन्थियों में थोरायड का स्थान सबसे प्रधान है। यह ग्रन्थि शरीर की अन्य ग्रन्थियों को भी स्वस्थ बनाने में बड़ा सहयोग देती हैं। यही कारण है कि सर्वांगासन से सारे शरीर को स्वस्थता प्राप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे। अभी हम थोरायड को थोड़ा और समझाने का प्रयास करेंगे।

यह ग्रन्थि मनुष्य की ग्रीवा के कुछ नीचे श्वास नली के दोनों ओर स्थित होती है। इसके दो पिण्डक होते हैं जो ऊपर की ओर फैले रहते हैं और नीचे की ओर जुड़े रहते हैं। ग्रन्थि का प्रत्येक पिण्ड लगभग पाँच सेण्टीमीटर लम्बा व तीन सेण्टीमीटर चौड़ा होता है। इसका ऊपरी भाग नुकीला और नीचे का भाग चौड़ा होता है। इस ग्रंथि का रंग भूरा होता है। ग्रन्थि में पीले रंग का हारमोन बनता है जिसे Thyroxin कहते हैं। थाइरोक्सिन का प्रमुख भाग आयोडीन होता है। भोजन में आयोडीन की कमी से यह ग्रन्थि फूलने लगती है और मनुष्य को घेघा रोग हो जाता है।

इस ग्रन्थि में रक्त के श्वेत कीटाणुओं (Lencocyteo) की प्रमुख छावनी रहती है। अर्थात् यह उनका सबसे बड़ा सुदृढ़ किला है। यह ग्रन्थि जब तक सशक्त रहती है और अपना कार्य ठीक प्रकार करती रहती है तब तक मनुष्य के ऊपर रोगों का आक्रमण नहीं होता है और वृद्धावस्था जल्दी नहीं आती है। जब यह ग्रंथि ठीक कार्य नहीं करती तब शरीर में कीटाणु अपना प्रभाव जमाने लगते हैं और मनुष्य स्वस्थ नहीं रहता।

चित्त-शुद्धि एवं समाधि

—श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

प्रातः स्मरणीय भगवान पतञ्जलिदेव जी महाराज ने "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" कहकर योग की परिभाषा करते हुए चित्त-वृति निरोध को ही योग बतलाया है। अपने इसी अभिमत की पुष्टि के लिए उन्होंने योगदर्शन की रचना कर डाली। योगदर्शन के समाधिपाद एवं साधनपाद में चित्तवृत्तिनिरोध के विविध उपायों का वर्णन किया गया है।

चित्त क्या है और चित्तवृत्ति निरोध का क्या अर्थ है—इस जिज्ञासा पर कहा जा सकता है कि मन, बुद्धि और अहंकार इन तीनों के समुदाय का नाम चित्त है। चित्त-वृत्ति निरोध का अर्थ है—चित्त का लौकिक विषयों के चिन्तन से हट जाना। चित्त जब तक राग द्वेषादि दोषों से कलुषित रहेगा तब तक वृत्ति-निरोध होना असम्भव है। अतः योग प्राप्ति के लिए चित्त शुद्धि परमावश्यक है। चित्त शुद्धि का महत्त्व बताते हुए मैत्रेयी उपनिषद् में कहा गया है—

चित्तमेव हि संसार-स्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो याति गुह्यमेतत्सनातनम्।।
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते।।

चित्त ही संसार है, इसलिये उसे प्रयत्नपूर्वक शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा चित्त होता है उसकी वैसी ही गति होती है यह एक सनातन सिद्धान्त है। चित्त शान्त होने पर साधक के सभी शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् वह कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है और शान्त चित्त वाला मनुष्य समाधि स्थिति को प्राप्त होकर कभी नष्ट न होने वाले आनन्द के भण्डार को पा जाता है।

गीता में कहा गया है—

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

चित्त की निर्मलता हो जाने पर साधक के अन्दर दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है और प्रसन्न चित्त मनुष्य की बुद्धि, शीघ्र ही स्थिर हो जाती है अर्थात् वह समाधि को पा जाया करता है।

अतः साधक को सर्वप्रथम चित्त शुद्धि के लिये ही प्रयत्न करना चाहिए। योगदर्शन में वर्णित अष्टाङ्गयोग के दूसरे अङ्ग नियमों के अन्तर्गत एक नियम शौच भी है। जिसका अर्थ है—बाह्य शुद्धि और आन्तरिक शुद्धि। इन दोनों प्रकार की शुद्धियों पर बल देते हुए मैत्रेयी

उपनिषद् में कहा गया है–

जातं मृतमिदं देहं मातृपितृ मलात्मकम्।
सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते।।
नवद्वारमलस्राव सदा काले स्वभावजम्।
दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते।
मात्रा सूतक सम्बद्धं सूतके सह जायते।
मृतं सूतकमं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते।।

माता–पिता के मल से बना हुआ, जन्म–मरण स्वभाव वाला, सुख–दुःख का घर तथा हर प्रकार से अपवित्र इस शरीर को छूकर स्नान करना चाहिये।

आँख, कान आदि नौ दरवाजों द्वारा जिससे हमेशा मल निकलता रहता है और मल की दुर्गन्ध से जो सदा भरा रहता है ऐसे इस मलिन शरीर को छूकर स्नान करना चाहिये।

माता के सूतक से सम्बन्धित होने के कारण मनुष्य जन्म के साथ ही सूतक भी जन्म ले लेता है और मरण का सूतक भी इस शरीर के साथ लगा रहता है। इसलिये शरीर को छूकर स्नान करना चाहिये।

साधक को चाहिए कि वह उपरोक्त तथ्यों को हृदय में धारण कर हर तरह से पवित्र रहने की चेष्टा करे। ''शौच'' नियम का दृढ़ता से पालन करने पर वैराग्य के भाव पुष्ट होते हैं।

''शौच'' का फल बताते हुए योगदर्शन में कहा गया है–

शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्ग।

बाह्य शुद्धि के पालन से साधक की अपने शरीर में अपवित्र बुद्धि हो जाती है। अर्थात् उसमें उसकी आसक्ति नहीं रहती तथा सांसारिक व्यक्तियों का संग करने की उसे इच्छा नहीं होती।

बाह्य शुद्धि योग साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है किन्तु वास्तविक शुद्धि चित्त–शुद्धि ही है जो कि इससे आगे की चीज है। उपनिषद का वचन है–

अहम्ममेति विणमूत्रलेपगन्धादि लोचनम्।
शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम्।।
चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशनम्।
ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनात् शौचमुच्यते।।

मल, मूत्र आदि की शुद्धि तो मिट्टी जल आदि से होती है किन्तु यह लौकिक शुद्धि है। वास्तविक शुद्धि तो ''मैं'' और ''मेरा'' यह त्यागने से ही होती है।

यद्यपि बाह्य पवित्रता भी चित्त को शुद्ध बनाती है और वासनाओं का नाश करती है पर ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्य रूपी जल से धोने पर जो पवित्रता आती है वही

वास्तविक पवित्रता है।

उपनिषद में वर्णित निम्नलिखित विधि से साधना करने वाला योग साधक शुद्ध चित्त होकर उसके फलस्वरूप मोक्ष को पा जाया करता है–

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत्।।
अभेद दर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
ब्रह्मामृतं पिवेद् भैक्ष्यमाचरेद्देहरक्षणे।।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात्।।

शरीर देवालय है और उसमें वास करने वाला जीव शिव स्वरूप है। अतः साधक को चाहिए कि वह अज्ञानरूपी मल को त्याग दे। अर्थात् अपने को शरीर न समझकर 'परमात्मा मैं ही हूँ।' ऐसी भावना से उस परमेश्वर की पूजा करे। क्योंकि जीव और परमेश्वर में भेद न समझना ही ज्ञान है, मन को विषय–विकारों से हटाना ही ध्यान है, मन के मैल को त्याग करना ही स्नान है और इन्द्रियों को वश में रखना ही शुद्धि है। बुद्धिमान साधक को चाहिए कि वह सदैव परमेश्वर चिन्तन रूप अमृत का पान करता रहे और देह टिकी रहे केवल इसी उद्देश्य से भिक्षा ग्रहण करे तथा एकान्त स्थान में एकाकी वास करे। इस प्रकार आचरण करता हुआ मनुष्य मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

योगदर्शन में अष्टाङ्गयोग के सिद्धान्तों के अन्तर्गत चित्त शुद्धि के लिये दो सरल साधन बतलाये हैं। उनमें से पहला साधन है–

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख–दुःख पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

सुखी मनुष्यों में मित्रता की भावना करने से, दुःखी मनुष्यों में दया की भावना करने से पुण्यात्मा पुरुषों में प्रसन्नता की भावना करने से तथा पापीजनों में प्रति उपेक्षा भाव रखने से चित्त के राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या और क्रोध आदि मलों का नाश होकर चित्त निर्मल हो जाता है।

दूसरा उपाय है–

प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

अथवा प्राणवायु को बार–बार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है। जाबाल दर्शनोपनिषद में प्राणायाम का फल बताते हुए कहा गया है कि प्राणायाम करने वाले व्यक्ति का चित्त स्वच्छ हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसे शुद्ध आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है।

अतः पूर्वोक्त रीति से मैत्री आदि की भावना करने से प्राणायाम के अभ्यास से तथा

जप, तप आदि साधनों से साधक को चित्त पूर्णतया निर्मल हो जाता है और उसमें समाधिस्थ होने की योग्यता आ जाती है। योगदर्शन का सिद्धान्त है–

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रेन्द्रियजयात्म–दर्शनयोग्यत्वानि।

अर्थात् मैत्री आदि की भावना द्वारा, ध्यानभ्यास द्वारा अथवा जप, तप आदि साधनों द्वारा आन्तरिक शुद्धि के लिये अभ्यास करने से साधक के अन्दर स्थित राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि मलों का नाश होकर उसका अन्तःकरण पूर्णतया स्वच्छ हो जाता है, मन की व्याकुलता का नाश होकर उसमें सदैव प्रसन्नता बनी रहती है, चित्त एकाग्र हो जाता है और सब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, जिससे उसमें आत्म–दर्शन की योग्यता आ जाती है।

इस प्रकार चित्त–शुद्धि ही समाधि का प्रथम और अन्तिम सोपान है।

श्री सद्गुरु चरण वन्दना

–श्री गोपाल अग्रवाल

गुरुदेव तुम्हारे चरणों की महिमा है अपरम्पार प्रभो,
तेरे चरण कमल हैं अमृत सम नतमस्तक बारम्बार प्रभो।
तेरे चरण कमल की दिव्य छटा चहुँ दिशा में चकमती रहती है,
तेरे चरण कमल की पावन रज सब कष्ट निवारण करती है,
तेरे चरणों के आगे हे प्रभुजी चन्दा, सूरज झुक जाते हैं,
ब्रह्मा, विष्णु, शंकर जिनकी स्तुति निज मुख से गाते हैं,
हम करते हैं इन चरणों में तेरे, नतमस्तक बारम्बार प्रभो।
तेरे चरण कमल के भजने से पापी जन पार उतरते हैं,
ऋषि मुनि गण सारे लोकों में गुणगान उन्हीं का करते हैं,
आकाश तुम्हारे चरणों में, पाताल तुम्हारे चरणों में,
ब्रह्माण्ड तुम्हारे चरणों में, नतमस्तक बारम्बार प्रभो।
गंगा, जमुना सारी नदियाँ तेरे चरणों में आकर मिलती हैं,
तेरे पावन चरणों का चरणामृत पाने को दुनिया तरसती है,
है सरयू तुम्हारे चरणों में, सरस्वती तुम्हारे चरणों में,
गोपाल तुम्हारे चरणों में, नतमस्तक बारम्बार प्रभो,
गुरुदेव तुम्हारे चरणों की, महिमा है अपरम्पार प्रभो।

गीता तथा पातंजल योग सूत्रों में

एकात्मकता

–श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा

भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्शों को यदि कोई व्यक्ति एकत्र देखने तथा अध्ययन करने की आकांक्षा करना चाहे तो उसे योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के मुखारबिन्दु से निस्सृत गीता का मनोयोग में अध्ययन करना अभीष्ट होगा। गीता भारतीय संस्कृति की आत्मा है तथा एक ऐसा अमूल्य ग्रन्थरत्न है जिसकी समता का ग्रन्थरत्न न है, न कभी रहा और न ही कभी आगे बन सकेगा। इसमें निहित है ब्रह्मविद्या; इसमें भरा है उपनिषदों का सार। इसमें श्रोता हैं महाधनुर्धर अर्जुन तथा वक्ता हैं श्रीकृष्ण–नर एवं नारायण स्वयं इस अत्यन्त अद्‌भुत एवं परमपावन संवाद के संदेशवाहक बने हुए हैं। आत्मोत्कर्ष एवं आत्मिक अभ्युदय का यह शाश्वत गीत इस सप्तशत श्लोकी (700 श्लोकों में) गीता में न जाने अब तक कितने ही असंख्य मानवों के परम–कल्याण का कारक बन चुका है तथा 'यावत चन्द्र दिवाकरौ' की कालावधि तक मानवमात्र की अन्त: प्रसुप्त चेतना को जागृत कर उनमें नव–नवीन उद्‌भावनाओं की कल्याणमयी सृष्टि करता हुआ सार्वजनीय श्रेयस्करी प्रवृत्तियों का जनक बना रहेगा, इसमें किंचितमात्र सन्देह नहीं है। संक्षेप में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि श्रीमद्‌भगवद् गीता एक ऐसी अमूल्य धरोहर है जो सर्वदा पठनीय, मननीय तथा अभ्यसनीय है। यह महामुनि व्यास द्वारा रचित तथा भगवन्मुखारबिन्द द्वारा निस्सृत एक अपूर्व ग्रन्थ–रत्न के रूप में मानव मात्र के जीवन में एक आलोक–स्तम्भ बन पद–पद पर सहायक सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्रसिद्ध योग–सूत्रों के प्रणेता भगवान पतंजलि ने भी स्वानुभव सिद्ध सत्यों का उद्‌घाटन कर मानवमात्र के कल्याण–पथ को प्रशस्ततर बनाने में अभूतपूर्व योगदान किया है। हमारे पूर्वज ऋषि व मुनि मन्त्र–द्रष्टा तथा सत्य–द्रष्टा रहे हैं। उनके द्वारा उच्चरित वाक् ही मन्त्र बनकर तथा त्रिकाल में सत्य होकर अवतरित हुई है। ऐसी पावन वाणी क्यों न जगतीतल में मानव मात्र के निमित्त श्रेयस्करी तथा यशस्करी हो। भगवान पतंजलिदेव ने चार पादों में ''समाधिपाद, विभूति पाद, साधन पाद तथा कैवल्य पाद'' के चार मणियों में प्रत्येक पाद की विभिन्न संख्याओं में रचित सूत्र–रत्नों के साथ एक मुक्ताहार जो विश्व के जन–जन हेतु समर्पित किया है। वह वस्तुत: सर्वथा अभिनन्दनीय, वन्दनीय तथा समभ्यसनीय एवं अनुकरणीय है। भगवान पतंजलिदेव के सूत्रों पर महामुनि व्यासकृत 'भाष्य' ही पातंजलि योग–दर्शन की सर्वातिशायी उत्कृष्ट महत्ता का परिचायक

है।

इस लेख का प्रतिपाद्य विषय है कि श्रीमद्भगवद् गीता में यत्र–तत्र जिस विषय को संग्राह्य किया गया है उसका समावेश पातंजल योग–दर्शन में सूत्रों में कहीं न कहीं दृष्टिगोचर हुआ है। गीता तथा पातंजल योग–दर्शन वास्तव में जीवन–दर्शन के प्रस्थापक दो अनमोल रत्न हैं, जिनसे जीवन को रत्नसम उत्कृष्ट एवं उज्ज्वल बना पाने की कला यत्र तत्र सर्वत्र बिखरी हुई है। मात्र आवश्यकता है बस उस संग्राहक की, उस बटोरने वाले की जो उन्हें ग्रहण कर हृदयंगम करे तथा उन आदर्शों का आलिंगन कर अपने इस दुर्लभ नर–तनु को दिव्य सम्पदाओं से युक्त बनाकर जीवन के चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार सहित उस परमात्म सत्ता में अपनी आत्म–सत्ता को विलीन कर तद्रूपता प्राप्त कर ले।

गीता तथा पातंजल योग–दर्शन दोनों ही ग्रन्थों के प्रतिपाद्य मुख्य विषय हैं—भगवद्–प्राप्ति अथवा कैवल्य भाव प्राप्ति, आत्म–प्राप्ति भी जिसे हम कह सकते हैं। गीता में 18 अध्याय हैं। प्रमुख रूप से प्रथम के छः अध्यायों में कर्मयोग का निरूपण किया गया है, दूसरे छः अध्यायों में भक्तियोग का विशद वर्णन है तथा तीसरे छः अध्यायों में ज्ञानयोग का व्याख्यापन हुआ है। संक्षेपतः हम यों कह सकते हैं कि भगवद्–प्राप्ति के तीन प्रकार के साधन–सोपान गीता में उपदिष्ट हैं—पहला कर्मयोग, दूसरा भक्तियोग तथा तीसरा ज्ञान–योग। इसी प्रकार महामुनि पतंजलि कृत चार पाद कैवल्य प्राप्ति अथवा आत्म साक्षात्कार हेतु विभिन्न साधन सोपान हैं, जिनसे मनुष्य क्रमशः जीवन–मार्ग को प्रशस्त करता हुआ अन्तिम एवं प्राप्तव्य लक्ष्य कैवल्य पद को प्राप्त कर लिया करता है।

पातंजल योग–दर्शन के आरम्भ में ही योग की व्याख्या करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने एक सूत्र की रचना की ''योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का सम्पूर्ण रूप से रोक देना ही ''योग'' है। देखने में समझने में तथा पढ़ लेने में यह सूत्र कितना छोटा तथा निरापद सा जान पड़ता है, परन्तु जितना यह छोटा है, इसके सम्यक् अनुशीलन तथा आचरण के लिए यह सम्पूर्ण जीवन भी बहुत ही छोटा दीख पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्तियों का उदय क्षण–प्रतिक्षण अविराम गति से हुआ करता है। उस वृत्ति–चक्र की उपरामता शनैः शनैः ही सम्भव है। उपरामता के क्रम में भी इन्द्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण, यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि। इन योग के अष्टांगों का सम्यक् रूपेण आचरण, श्रद्धापूर्वक, सुदीर्घ अवधि तक निरंतर अबाध रूप से अभ्यास ही नितान्त वांछनीय एवं अतिप्रेत है। पातंजल योग–सूत्र ''स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः'' के अनुसार अक्षरशः अनुभूत एवं सिद्ध सत्य है।

उपर्युक्त सिद्धान्त की परिपुष्टि योग–योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण अपने मुखारविन्द से

मन की एकाग्रता पर बल देते हुए मानस चांचल्य को वशीभूत करने की शिक्षा, अभ्यास तथा वैराग्य के समाश्रय से पूर्ण करने के लिए अर्जुन के तत्सम्बन्धी प्रश्न के माध्यम से प्रदान कर रहे हैं। वे कहते हैं–

चंलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवदुदृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्।।
असशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।।
असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप्यं इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।

–गीता 6/34–35–36

भगवन्मुखारविन्द के उपर्युक्त वचनामृत कितने यथार्थ एवं हृदय स्पर्शी हैं। इनकी सत्यता में लेशमात्र भी सन्देह अथवा संशय नहीं है। जीवन के पग–पग पर मनुष्यमात्र इन यथार्थ सत्यों का अनुभव करता रहता है तथापि अभ्यास तथा वैराग्य की बलवती धारणा से इस दुर्निग्रही मन पर भी इन्द्रियजय आदि के माध्यमों से अथवा अन्यान्य प्राणायामादिक साधनों के अवलम्ब से–उपायों द्वारा विजय प्राप्त कर लिया करता है।

पातंजल योग–दर्शनकार ने भी इन्हीं विषयों के प्रतिपादनार्थ निम्न सूत्रों की संरचना कर दी–

श्रद्धापूर्वक मितरेषाम्
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः
अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः

वस्तुतः देखा जाय तो हमारा 'संकल्प–विकल्प वृत्तिमान' यह मन ही तो हमें सत्यपथगामी या कुपथगामी या दूसरे शब्दों में शुभ संकल्पवान् या अशुभ संकल्पी बनाया करता है। इसको हम जिस ओर उन्मुख कर दें वह उसी प्रवृत्ति को धारण करने वाला हो जाया करता है। वेद भगवान में भी मन की ऐसी वृत्तिमत्ता को स्वीकार करते हुए 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' की ऋचाओं की उद्घोषणायें ऋषिप्रवरों द्वारा की गई हैं। सारा खेल है भी इसी नटवर नागर चंचल राजा मन का ही। लोकोक्तियाँ कितनी सटीक तथा यथार्थ हैं इन्हीं मन के बारे में–

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।

जितं जगत्तेन मनो हि येव–

परन्तु जैसा कि इससे पूर्व भी उल्लेख किया जा चुका है कि ये सूक्तियाँ पढ़ने–लिखने समझने में जितनी सुगम व सरल प्रतीत होती हैं इनका आचरण करने वाला स्वनामधन्य कोई एक विरला ही मनुज श्रेष्ठ इस धरतीतल पर ढूँढे से भी मिल पाना कठिन हुआ

करता है क्योंकि यह 'असिधारा–व्रत' के सदृश कठिन परीक्षा के दौर से तप्तकाञ्चन सरीखे उत्तम व्यक्तित्व ही हुआ करते हैं।

इसके अतिरिक्त गीता में अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने 'भक्तियोग' के माध्यम से निम्न श्लोक द्वारा क्या ही सुगम, सरल व सुन्दर मार्ग इङ्गित किया है–

यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
शुभाशुभ फलैरेवं, मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यास योग युक्तात्मा, विमुक्तो मामुपैष्यसि।।

पातञ्जल योग सूत्रकार ने भी इसी सिद्धान्त का निरूपण निम्न सूत्रों के माध्यम से कर दिया है–

ईश्वर प्रणिधानाद् वा
यथाभिमतध्यानाद् वा
वीतरागविषयं वा चितम्
आदि।

इससे स्पष्ट है कि भक्ति से ओतप्रोत मन भक्तियोग द्वारा अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लिया करता है। आवश्यकता है बस केवल इतनी कि वह मन को इस बात के लिए राजी कर ले कि वह किस माध्यम को अपनाकर दृढ़तापूर्वक अपने गन्तव्य पथ पर पहुँचना चाहेगा। एक बार अपनाये गए मार्ग से फिर विचलित होना या संशयालु होना यह पतन के कारण हुआ करते हैं।

पतंजलि देव के अनुसार '**संशयस्त्थान .... विक्षेपाः सहभुवः**' संशय आदि वृत्तियों के लिये फिर उसमें स्थान नहीं है। श्रद्धातिरेक द्वारा ही वह सहज सम्भाव्य है।

सा श्रद्धा जननीव योगिनं पाति।

इसके अनुसार श्रद्धा एवं विश्वास से प्राप्तव्य एवं गन्तव्य पथ का अनुसरण तथा वततथा तदनुसार ही होना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी संशयात्मक व्यक्तियों को सचेत करते हुए निम्न श्लोक में अपने वचनामृत की अवधारणा की है–

अज्ञाश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

–गीता 4/40–39

पातंजल योगदर्शनकार ने 'निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' इस सूत्र की रचना कर भगवद्गीता के उस श्लोक का स्मरण दिला दिया है जिसे पाकर सब सुखों की निवृत्ति हो

जाया करती है।

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

—गीता 2/65

तथा

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा:।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदु:खसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।

—गीता 15/5

इसके अतिरिक्त 'ज्ञान योग' के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्न उपदेशामृत देकर हमें सचेत किया है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

—गीता 9/34

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।

—गीता 7/25

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

—गीता 4/11

अन्ततः भगवान् श्रीकृष्ण के ये वचनामृत भी कितने यथार्थ एवं ग्राह्य हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

—गीता 7/14

भगवान श्रीकृष्ण की उक्त उक्ति मानव मात्र के लिए सर्वत्र ग्राह्य एवं अवबोध्य है। इस लघुजीवन में विविध प्रकार के सांसारिक क्रियाकलापों में प्रति क्षण व्यस्त इस जीवन क्रम में मनुष्य को यह अवसर ही कहाँ कि वह स्वयं चेष्टावान् तथा आस्थावान् रहकर इस कठिन एवं दुस्साध्य मायामय संसार—सागर से अपने आपको उबार कर ले जाय। गुरुदेव के रूप में साक्षात् ईश्वर एवं सर्वसमर्थ प्रभु की चरण—शरण के द्वारा ही यह सुदुष्कर पथ भी सुकर एवं सुलभ हो जाया करता है। आवश्यकता है तो मात्र इतनी कि श्रद्धातिशय द्वारा हम गुरुदेव की अनुकम्पा के पात्र बनें तथा इस जीवन के परम लाभ को उनके सानिध्य की सन्निधि अवश्यमेव प्राप्ति करें।

अशान्तस्य कुतः सुखम्

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को जीवन तत्व समझाते हुए कहा है–

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।

गीता 2/66

अर्थात्–जिनका चित्त चंचल है, उनमें बुद्धि नहीं रहती और न ऐसे चंचल मन वाले को भावना ही प्राप्त हो पाती है, और न भावनाहीन मनुष्य को शान्ति मिल पाती है, और जब शान्ति नहीं मिल पाती तब उसे सुख भी कैसे मिल पायेगा। क्योंकि अशान्त और अयुक्त मन वालों को सुख मिल ही नहीं पाता है।

भगवान ने उपर्युक्त श्लोक में संक्षेपतः चार बातों को समझाया है–

1. जिसका चित्त चंचल है, इन्द्रियाँ वश में नहीं हुई हैं उसे स्थिर बुद्धि प्राप्त नहीं होती।
2. जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं हुई है उसे भक्ति (भावना) प्राप्त नहीं होती।
3. जिसे परमात्मा की भक्ति नहीं प्राप्त होती उसे शान्ति नहीं मिल सकती। और
4. जिसे शान्ति नहीं मिलती उसे सुख भी नहीं मिल पाता।

प्रत्येक मनुष्य सुख प्राप्ति की कोशिश करता है। एक मनुष्य मोटर रखता है सुख पाने के लिए और दूसरा उसका त्याग करता है सुख के लिए। एक मनुष्य वैभव में सुख का अनुभव करना चाहता है तो दूसरा वैभव के त्याग में सुख देखना चाहता है। त्यागी को त्याग में आनन्द आता है और भोगी को भोग में। पर बाह्य वस्तुओं के त्याग और उपभोग में जो सुख मिलता है वह स्थायी नहीं होता। स्थायी और अक्षय सुख तो सदा अविनाशी परमात्मा की भक्ति में मन लगाने से मिलता है।

- विद्वता के साथ नम्रता का होना सोने पर सुहागा होने के समान है। *–अज्ञात*
- आदमी जितना महान होगा उतना ही नम्र होगा। *–डेनिसन*
- ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य चारित्र्य निर्माण होना चाहिए। *–गांधी*
- ईश्वर ने बुद्धि की कोई सीमा निश्चित नहीं की है। *–बेकन*
- नारी की सप्त शक्तियों में पाँचवीं शक्ति है मेधा। *–गीता*

प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण कर्म

—आचार्य डॉ. केशवराम शर्मा

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः।'' ''मनुष्य इस संसार में कर्मरत रहता हुआ ही एक सौ वर्ष तक जीवित रहने की कामना करे।'' श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भी भगवान् कृष्ण ने **''कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः''** का उपदेश देकर अर्जुन को सतत् कर्मशील बने रहने की प्रेरणा दी है। वास्तव में विविध कार्यों में व्यस्त रहना मनुष्य का परम धर्म है। इस संसार का एक नाम 'जगत्' है, जिसका अर्थ है—'गतिरस्मिन् विद्यते इति जगत्' अर्थात् गतिशीलता का ही दूसरा नाम 'जगत्' है : मनुष्य की स्थिति चिकने खम्भे पर चढ़ने वाले बन्दर जैसी है। जब तक ऊपर चढ़ने का प्रयास करता रहेगा, बढ़ता रहेगा, किन्तु जैसे ही विश्राम करना चाहेगा वह नीचे खिसकने लगेगा। अतः कल्याणकामी मनुष्यों को सतत् आगे बढ़ने के लिए यत्नशील रहना चाहिए।

अनेक बार हम देखते हैं कि बहुत प्रयास करने पर भी अत्यल्प फल मिलता है और कभी—कभी मनुष्य उससे भी वंचित रह जाता है। ऐसी स्थिति में वह सोचने लगता है कि ईश्वर की सत्ता कपोल—कल्पना मात्र है और यदि है भी तो उस जगदात्मा के यहाँ कोई न्याय नहीं है। वस्तु—स्थिति यह है कि उस प्रभु के संकेत के बिना एक पत्ता भी टस से मस नहीं होता। उसकी न्याय—तुला भी शाश्वत निर्दोष रहती है। अब प्रश्न यह उठता है कि तब मनुष्य को कर्मानुकूल फल क्यों नहीं मिलता? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि फल तो निश्चय ही कर्मानुकूल मिलता है, किन्तु उसे न्याय—तुला पर भली—भांति नाप—तौलकर दिया जाता है। यहीं से हमारे प्रस्तुत विषय का श्रीगणेश होता है।

तीन प्रकार के कर्म

हमारे कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(1) संचित कर्म, (2) प्रारब्ध कर्म तथा (3) क्रिय—माण कर्म। संचित कर्म जन्म—जन्मान्तर से एकत्र होते रहते हैं। उनके आधार पर प्राणी को शरीर त्यागने के पश्चात् नई योनि, माता—पिता, परिवार, सम्पन्नता—विपन्नता तथा सुन्दर या असुन्दर, स्वस्थ या अस्वस्थ शरीर आदि की प्राप्ति होती है।

प्रारब्ध कर्म, संचित कर्मों का एक अंश मात्र होते हैं। हमारे क्रियमाण कर्मों के फल के साथ इनका सीधा सम्बन्ध होता है। यदि क्रियमाण कर्म शुभ तथा फलानुकूल हैं और प्रारब्ध कर्म भी संवादी हों तो तत्काल श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है। स्पष्ट है कि क्रिय—माण कार्य के साथ प्रारब्ध कर्म का जिस अनुपात में अनुकूल या प्रतिकूल योग होगा, वैसा ही फल मिलेगा। प्रारब्ध कर्म अति श्रेष्ठ होने पर प्रतिकूल क्रियमाण कर्मों का भी शुभ परिणाम मिलता है। यथा पाप—कर्म करके भी धन—वैभव, अधिकार का पद और

बन्धु–बान्धवों का सुख भोगता रहे, दुराचारी होकर भी सम्मानित होता रहे, थोड़े प्रयास से ही विद्या–बुद्धि का अधिकारी बन जावे।

निश्चित है कि यह क्रम अधिक समय तक सम्भव नहीं रहता। प्रारब्ध कर्मों की स्थिति सदैव एक जैसी नही रहती और इसकी स्थिति बदलते ही क्रियमाण कर्मों का फल भी तदनुकूल ही सुलभ या दुर्लभ हो जाता है। इस प्रसंग को और स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

संचित कर्म इस प्रकार हैं–जैसे किसी बड़े परिवार का मुखिया अपने कुटुम्ब के साल भर के खर्च को ध्यान में रखकर अलग–अलग समय में, अलग–अलग स्थानों से, अलग–अलग प्रकार के गेहुँओं की दस बोरियाँ अपने गोदाम में भरकर रख ले। इनमें से एक बोरी नित्य प्रति के उपयोग के लिए बाहर निकाली जायेगी और शेष समय आने पर बाद में एक–एक करके निकलती रहेंगी। यहाँ जिस बोरी के गेहुँओं का उपयोग अब हो रहा है, वह हमारे प्रारब्ध कर्मों की सूचक है और संग्रह करके रखी गई शेष बोरियाँ संचित कर्मों के समान हैं। भोजन के स्वादिष्ट बनने या न बनने में तत्काल खरीदी गई साग सब्जियाँ, जो हमारे क्रियमाण कर्मों के समान होती हैं, उनका भी योगदान होता है और कैसे गेहूँ के आटे की रोटियाँ पकाई जा रही हैं। (प्रारब्ध कर्म) इस बात का भी कोई कम महत्व नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रोटियों और दाल–सब्जियों के योग पर भोजन का आनन्द निर्भर करता है, ठीक उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्मों के योग से हमें अपने कर्मों का अच्छा या बुरा फल मिला करता है।

भोग–योनि तथा कर्म–योनि

इसी सन्दर्भ में यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि केवल मानव–योनि ही ऐसी है, जिसमें प्राणी को कर्म करने की स्वतन्त्रता रहती है। वह अपने पाप तथा पुण्यों को घटाने–बढ़ाने में पूर्ण समर्थ रहता है। जड़–चेतन सृष्टि में व्याप्त शेष सभी योनियाँ मात्र भोग–योनियां हैं। पशु–पक्षी का शरीर धारण करके जीवात्मा अपने पूर्व संचित कर्मों को थोड़ा शिथिल करने के अतिरिक्त कोई विशेष प्रगति नहीं कर सकता। बैल अपने स्वामी के संकेत के अभाव में किसी अन्य की सहायता करके परोपकार नहीं कर सकता। वह अपना भोजनादि भी किसी को दानस्वरूप देने में असमर्थ है। केवल मनुष्य को ही उस जगन्नियन्ता ने शुभाशुभ चाहे जैसे कर्म करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है। यह भोग–योनि भी है और कर्म–योनि भी जबकि शष केवल भोग–योनियाँ हैं।

स्वर्ग, नरक तथा मोक्ष

यदि मानव शरीर धारण करके भी हम अपने कल्याण की चेष्टा न करें तो इससे बड़ी मूर्खता क्या हो सकती है? हमारे कर्मों का स्वर्ग–नरक तथा मोक्ष से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः इसके विषय में भी थोड़ा प्रकाश डालना उचित रहेगा, अतिशय पुण्यों के

प्रभाव से जीव को स्वर्ग का सुख मिलता है। यह उपलब्धि केवल उसी स्थिति में होती है, जब जीवात्मा के संचित पुण्य इतने अधिक हों कि उसे अच्छी से अच्छी योनि प्रदान करने के बाद भी उनका सन्तुलन सम्भव न हो सके। अर्थात् पृथ्वी के बड़े से बड़े भोग भी जब उस आत्मा विशेष के पुण्यों के सामने नगण्य प्रतीत होते हैं, तब उसे निश्चित काल तक स्वर्ग में निवास करने का अवसर प्रदान किया जाता है, जहाँ वह नाना प्रकार के दिव्य भोगों का परमानन्द प्राप्त करता है। तदनन्तर वह जगन्नियन्ता ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि उसे किसी सुशील, सम्पन्न और प्रतिष्ठित परिवार में उत्तम मानव शरीर प्रदान किया जा सके। श्रीमद्‌भगवद् गीता में जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने भी इसकी इन शब्दों में पुष्टि की है–

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं।।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।।

अर्थात् ''वे पुण्यात्मा पुरुष उस विशाल स्वर्गलोक में दिव्य भोगों को भोगकर बाद में अपने पुण्यों के क्षीण हो जाने पर पुनः मृत्यु–लोक में जन्म धारण करते हैं।

नरक की स्थिति स्वर्ग से सर्वथा विपरीत है। ऐसा प्राणी जो अपने पाप–समूह के कारण मृत्यु–लोक में निकृष्ट से निकृष्ट योनि को धारण करने की भी सामर्थ्य नहीं रखता, भगवान उसके भीषण पापों को क्षीण करने के लिए उसके निमित्त नरक की व्यवस्था करते हैं। जहाँ विविध यातनाओं को सहन करने के पश्चात् कालान्तर में वह किसी निर्धन, संस्कारहीन और निम्न वर्ग के परिवार में जन्म लेता है अथवा पशु–पक्षी या कीटादि की योनि को ग्रहण करता है।

मोक्ष की स्थिति इन दोनों से सर्वथा भिन्न है। जब तक जीवात्मा के संचित पुण्य तथा पाप–कर्म शेष रहते हैं, तब तक उसे उसका सुख–दुःख भोगने के लिए अनिवार्य रूप से विविध शरीर धारण करने पड़ते हैं। जब किसी समर्थ सद्‌गुरु के मार्ग–दर्शन में कठोर साधना के फलस्वरूप प्राणी के पाप–पुण्य शून्य पटल पर आ जाते हैं, तब शरीर त्यागने पर उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में ऐसे महान् साधक को 'स्थित प्रज्ञः' की संज्ञा प्रदान की गई है। इस सन्दर्भ में अर्जुन द्वारा जिज्ञासा करने पर भगवान श्रीकृष्ण गीता के दूसरे अध्याय में श्लोक संख्या 55 से 72 तक स्थित–प्रज्ञ महात्मा के विषय में बहुत ही सुन्दर डालते हैं। 'स्थाली पुलाकन्याय'' से हम इस विषय को थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए उस प्रसंग का केवल एक श्लोक प्रस्तुत कर रहे हैं–

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं, दृष्ट्वा निवर्तते।। *(गीता 2/49)*

जो प्राणी अपनी इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग नहीं करता, कालान्तर में वह सांसारिक विषय–वासनाओं के मोह–जाल से तो छूट जाता है, किन्तु उसे सहज ही राग से मुक्ति नहीं मिलती। स्थित–प्रज्ञ साधक, क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार कर चुका

होता है। अतः उसके हृदय से राग–भाव भी सर्वथा नष्ट हो जाता है।'' इस प्रकार के सिद्ध पुरुष, जो साधना के बल से अपने समस्त संचित कर्मों का क्षय कर चुके होते हैं। वे अपने शेष जीवन काल में पाप–कर्म तो कर ही नहीं सकते। साथ ही पुण्य–कर्मों का भी स्वेच्छया परित्याग करते रहते हैं। अपने जीवन की निश्चित अवधि समाप्त करके ऐसे महात्मा सहज भाव से परमात्मा में लीन होकर उस संसार–चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ पाप–पुण्य की चर्चा अनावश्यक विस्तार में पढ़कर मोक्ष के सम्बन्ध में यह कहना परमावश्यक है कि ''बिना योगेन न मुक्तिः'' अर्थात् योग–साधना के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। तभी तो भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योगोन्मुख करते हुए कहा है–

तस्माद्योगी भवार्जुन।

(अतः हे अर्जुन! तुम योगी बनो), क्योंकि–

योगो भवति दुःखहा।

योग दुःखों को नष्ट करने वाला होता है।

आशा है कि इस लेख के पाठक भी योग–पथ का अनुशरण करके अपना कल्याण–पथ प्रशस्त करेंगे।

ईश्वर साक्षात्कार

–विनोबा

कहीं यह पूछा गया कि 'क्या हम भगवान् का रूप अपनी आँखों देख सकते हैं?' सचमुच सवाल बहुत बड़ा है, लेकिन उसका उत्तर है, अति सरल। भगवान् अव्यक्त भी है, व्यक्त भी। साकार भी है, निराकार भी। ईश्वर है भी और नहीं भी है। वह सगुण है, निर्गुण भी। वह सब प्रकार का है। यों तो जो विश्व सामने खड़ा है, सारा भगवान् का रूप ही है। लेकिन हम उसे उस प्रकार पहचान नहीं पाते। अपने चर्म चक्षुओं से ऊपरी ढाँचा, आकारमात्र देखते हैं, अन्तर का तत्व नहीं।

इसके अतिरिक्त ध्यान में मनुष्य की जैसी वासना होती है, तदनुसार भगवान् उसे वैसा रूप दिखाता है। उपासकों ने अपने चित्त की एकाग्रता और इन्द्रियों के आकर्षण से छूटने के लिए ध्यान की कल्पना की है। कोई चतुर्भुज विष्णु भगवान् का, कोई कृष्णचन्द्र का, कोई रामचन्द्र का, तो कोई ईसा का ध्यान करते और उस रूप में भगवान् को मानते हैं। कोई किसी भी रूप का तीव्र ध्यान करता हो, रात–दिन उसी का चिन्तन–मनन, भावन करता हो, तो उसके समाधानार्थ ध्यानावस्था में भगवान् वह रूप लेकर आ सकते हैं और इस तरह उसका समाधान हो सकता है।

उसे भगवद् रूप का दर्शन हुआ या नहीं, इसकी दूसरों को कल्पना नहीं आ सकती। लेकिन ध्यान समाप्ति के बाद उसका जो व्यवहार होगा, उस पर से लोगों को पता चलेगा। अवश्य ही उसने अपनी कल्पना का ही ईश्वर देखा, परिपूर्ण नहीं। फिर भी उतने से ही उसके चित्त का रूप बदल जायेगा। जिसका चित्त भगवान के दर्शन प्राप्त कर लेगा स्पष्ट ही उसके जीवन में प्रेम और करुणा स्पष्ट रूपेण देखने को मिलेगी।

यह कैसा अन्तर है ?

जब हम अपने को ही अपनी इच्छा के अनुकूल नहीं बना पाते है तो दूसरों से अपनी इच्छानुसार बन जाने की आशा कैसे रख सकते हैं? हम लोग प्रसन्नता और उत्साह पूर्वक दूसरों को पूर्ण बनाने की इच्छा करते है, किन्तु अपने दोषों का दूर नहीं करते। दूसरों के दोषों पर शासन करना चाहते है, पर स्वयं शासित होने की बात हमारे मन में नहीं आती। हम दूसरों की दुर्बलता, छूट और अपरिचित स्वाधीन आचरण से असन्तुष्ट और दुःखी होते हैं किन्तु अपने लिए तो हम जो कुछ करते हैं, उनमें से किसी बात के लिए इन्कार सुनना पसन्द नहीं करते। दूसरों को हम कठिन व्यवस्था के आधीन रखना चाहते हैं किन्तु स्वयं हम किसी व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं रहना चाहते। हमारे आचरण का यह कैसा अन्तर है ?

- एक पाश्चात्य विद्वान्

मुक्तात्मा

मन इन्द्रियों के संग सहित अथवा संग रहित विषयों में वृत्तिद्वारा प्रवृत्त हुआ करता है। एक विषय को ग्रहण करता है इसी से चंचल बना रहता है। इस चंचलता में आत्मा जाना नहीं जाता। मन की चंचलता आत्मा को जानने नहीं देती। निर्विषय मन में आत्मा का बोध होता है। मन की वृत्तियां उत्पत्ति और नाश वाली है, वृत्ति के नाश को लय कहते हैं और वृत्ति की उत्पत्ति को विक्षेप कहते हैं। मन की एक वृत्ति का नाश होकर दूसरी वृत्ति उत्पन्न होने वाली है, इस नाश और उत्पत्ति के मध्य के समय को सन्धि के क्षण-समय में मन की कोई भी वृत्ति न होने से सामान्य ज्ञप्ति-ज्ञान प्रकाशत है, यह प्रत्येक का अपना स्वरूप है। जो मनुष्य इस सन्धि को आत्मा-स्वरूप जानकर टिकता है वह निसंदेह मुक्त है।

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Agra 19/21-22 AUGUST 2021

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्माद्पुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ______________________

____

____

□□□□□□

आचार्यवान्हि पुरुषो वेदेत्यादि श्रुतिर्जगौ
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन गुरुमाहात्म्यं वद प्रभो

श्रुति इस प्रकार कहती है कि आचार्यवान् पुरुष ही परमात्मा को जानता है इसलिये हे प्रभो ! सर्व प्रयत्न से गुरु के माहात्म्य को कहिये।

गुरुतत्वं (पाठान्तर)

संस्थापक :- योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. रामलाल शर्मा के लिए संदीप ग्राफिक एवं प्रिंटिंग ... आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सँवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566 सम्पादक : आचार्य श्री (डॉ.) रामलाल शर्मा